मानवाधिकार : नई दिशाएँ

वार्षिक अंक–1

2004

प्रकाशक : राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग
सरदार पटेल भवन,
संसद मार्ग, नई दिल्ली–1,
भारत

© 2004 राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग, भारत

प्रकाशित रचनाओं में व्यक्त विचार लेखकों के निजी विचार हैं । राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग, सलाहकार मण्डल या संपादक मण्डल का इनसे सहमत होना आवश्यक नहीं है।

प्राप्ति स्थान : राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग
सरदार पटेल भवन,
संसद मार्ग, नई दिल्ली–110001

MANAVADHIKAR-NAI DISHAAYEIN
An Annual Journal of NHRC
in Hindi, Published by National Human Rights Commission
Sardar Patel Bhavan,
Sansad Marg,
New Delhi-110001

न्याय मे जितनी उदारता की जरूरत है इतनी ही न्याय की उदारता मे है

२३-१०-४५

न्याय में जितनी उदारता की जरूरत है, इतनी ही न्याय की उदारता में है।

महात्मा गांधी

23–10–1945

राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग

अध्यक्ष

न्यायमूर्ति डॉ० ए.एस. आनन्द

सदस्य

न्यायमूर्ति श्रीमती सुजाता वी. मनोहर
न्यायमूर्ति श्री वाई भास्कर राव
श्री आर.एस. काल्हा
श्री पी.सी. शर्मा

महासचिव
श्री पी.एस.एस. थॉमस

महानिदेशक
श्री संतोष कुमार

रजिस्ट्रार
श्री अजीत भरिहोक

संयुक्त सचिव
श्रीमती एस. जलजा

विशेष संपर्ककर्त्ता
श्री चमन लाल
श्री के.आर. वेणुगोपाल
श्री पी.जी.जे. नम्पूतिरि
सुश्री अनुराधा मोहित

सलाहकार मंडल

न्यायमूर्ति डॉ0 ए.एस. आनन्द,

न्यायमूर्ति श्रीमती सुजाता वी. मनोहर,

श्रीमती महाश्वेता देवी,

श्री सन्तोष कुमार,

श्री एम. एल. गुप्त,
संयुक्त सचिव, राजभाषा विभाग, गृह मंत्रालय

सुश्री सुधा श्रोत्रिय,
निदेशक, राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग

संपादक मंडल

महाश्वेता देवी	.	मानद मुख्य संपादक
संतोष कुमार	.	संपादक
सरोज कुमार शुक्ल	.	सह संपादक
डॉ0 बालकृष्ण सिन्हा	.	सहायक संपादक

सहयोग : श्री वी. के. भटनागर
श्री राजेश कुमार कालड़ा
श्रीमती अंजलि सकलानी

कम्प्यूटरीकरण : श्रीमती सीमा शर्मा
श्रीमती गायत्री शर्मा
श्रीमती सुमन माला सैनी

अनुक्रम

अध्यक्ष की ओर से

संपादकीय

लेख

1	भारत में मानव अधिकार आयोग की भूमिका	न्यायमूर्ति डॉ. ए एस आनन्द	3–8
2	अपने अधिकार जानें	न्यायमूर्ति श्रीमती सुजाता वी. मनोहर	9–12
3	मानवाधिकार और पुलिस के काम--काज	न्यायमूर्ति श्री वाई. भास्कर राव	13–19
4	भारत के कारागारों में कैदियों की स्थिति, उनके अधिकार और अपेक्षित सुधारात्मक उपाय	डॉ. पी. के. अग्रवाल	20–31
5	बालश्रम : एक मानवाधिकार मुद्दा	चमन लाल	32–38
6	भारतीय परिदृश्य में मानव अधिकार : प्रासंगिकता और अनुपालन	प्रो. गिरीश्वर मिश्र	39–46
7	आतंकवाद एवं मानव अधिकार	एस. वी. एम. त्रिपाठी	47–50
8	बंधुआ श्रमिक : समस्याएँ एवम् समाधान	स्वामी अग्निवेश	51–56
9	मीडिया तथा मानवाधिकार	बलराज पुरी	57–60
10	सिर पर मैला ढोने की प्रथा : एक सामाजिक अभिशाप	डॉ. विन्देश्वर पाठक	61–65
11	भारतीय पुलिस प्रणाली में मानवाधिकारों की दृष्टि से व्यवस्थागत सुधार	डॉ. त्रिनाथ मिश्र	66–79
12	गरिमापूर्ण जीवन	मदन गुप्त	80–83
13	मानवाधिकार : अंतरराष्ट्रीय और भारतीय विधि के परिप्रेक्ष्य में	प्रो. बी.बी. पांडे	84–88
13	मानव अधिकार और यूनेस्को	प्रो. योगेश अटल	89–93

14	मानव अधिकार एवं बुद्धिजीवी वर्ग : कुछ संकेत	प्रो. विवेक मिश्र	94–101
15	मानवाधिकार, न्यायपालिका और पुलिस : भारतवर्ष के परिप्रेक्ष्य में एक विहंगम दृष्टि	राजेश प्रताप सिंह	102–112
16	मानवाधिकार और पुलिस उत्पीड़न :	अरूण कुमार	113–119
17	सामाजिक न्याय और मानवाधिकार	मुकेश कुमार मेश्राम	120–129
18	भारतीय परिवेश और मानवाधिकार	डॉ. हरिओम	130–140
19	मानवाधिकार संरक्षण एवं भारतीय पुलिस	सत्यनारायण साबत	141–147

आयोग के कुछ महत्वपूर्ण निर्णय

क इलाहाबाद ज़िले में चटाई कारखाने से 13 बंधुआ बाल मजदूरों की रिहाई : उत्तर प्रदेश 151–164

ख पश्चिमी गोदावरी ज़िला में अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति की चार महिलाओं के साथ बलात्कार : आन्ध्र प्रदेश

ग जवान ने मानसिक रूप से विक्षिप्त लड़की के साथ सबके सामने बलात्कार किया : असम

घ बारामूला ज़िले में नकाबपोश बंदूकधारियों द्वारा 18 लोगों की तथाकथित हत्या : जम्मू और कश्मीर

ड. पंजाब पुलिस द्वारा लावारिस लाशों का सामूहिक दाह संस्कार : उच्चतम न्यायालय द्वारा सुपुर्द केस

च कार्तिक महतो की पुलिस हिरासत में यातना के फलस्वरूप मौत : बिहार

छ उड़ीसा में भुखमरी से होने वाली मौतों को रोकने के उपाय

ज दलितों, अल्पसंख्यकों, विकलांगों और अन्य के अधिकारों का संरक्षण; कई राज्यों में इसाईयों पर हुए हमले

समीक्षा 167–169

इस अंक के रचनाकार

आयोग के प्रकाशन

अध्यक्ष की ओर से

आज के सम्पूर्ण सभ्य समाज ने प्रजातान्त्रिक व्यवस्था को आदर्श राजनीतिक एवम् सामाजिक व्यवस्था के रूप में मान्य किया है। प्रजातान्त्रिक व्यवस्था का मूलाधार है सभी के लिए अपना जीवन–स्तर सुधारने के लिए अवसरों की समानता तथा प्रत्येक व्यक्ति के मूलभूत मानवाधिकारों एवम् स्वतन्त्रताओं की रक्षा की आश्वस्ति। संयुक्त राष्ट्र के अनेक अन्तरराष्ट्रीय प्रपत्रों में इसकी पुष्टि की गयी है। इसी परिप्रेक्ष्य में भारतीय संविधान में मूलभूत अधिकारों की मूल अवधारणा के अनुरूप ही है। संविधानों एवम् अन्य राष्ट्रीय कानूनों में मानवाधिकारों के संरक्षण संबंधी विविध प्रावधानों के बावजूद मानवाधिकार हनन की ऐसी घटनाएँ होती रहती हैं जो मानवता के लिए कलंक बन जाती हैं। ऐसी घटनाएँ समाज में न केवल अव्यवस्था फैलाती हैं बल्कि प्रगति के मार्ग में बाधा और मनुष्यों के जीवन–स्तर गिराने का कारण भी बनती हैं। इन्हीं बातों को ध्यान में रख कर अंतरराष्ट्रीय स्तर पर मानव अधिकारों की रक्षा तथा प्रसार का अनवरत प्रयास होता रहा है। भारत भी इस प्रयास में गंभीरता से जुड़ा हुआ है और यह कोशिश करता रहा है कि मानव अधिकारों पर किसी तरह की आँच न आए।

भारत के लिए मानव अधिकार का विचार नया नहीं है लेकिन आज जिस रूप में बल दिया जा रहा है उसका कलेवर अवश्य नया है और उसका संदर्भ भी नया है। इसीलिए यह जरूरी है कि मानव अधिकारों के बारे में व्यापक स्तर पर विचार विमर्श हो और इसके बारे में लोग सजग हों। इस प्रकार के विचार–विमर्श को प्रोत्साहित करने के लिए आयोग ने वर्ष 2002 में अंग्रेजी में एक स्तरीय वार्षिक प्रकाशन Journal of the National Human Rights Commission, India का आरम्भ किया। साथ ही यह भी महसूस किया गया कि इस विचार–विमर्श को व्यापकता प्रदान करने के लिए अंग्रेज़ी के स्थान पर भारतीय भाषाओं, विशेषतः हिन्दी, को माध्यम बनाना अधिक उपयुक्त होगा। इसी को ध्यान में रखकर आयोग ने यह निश्चय किया कि हिन्दी में पत्रिका के प्रकाशन के माध्यम से एक विशाल जनसमुदाय को संबोधित किया जाए और उनकी भागीदारी सुनिश्चित की जाए।

राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग की पत्रिका

मुझे खुशी है कि आयोग की हिंदी पत्रिका "मानव अधिकार : नई दिशाएँ" के प्रवेशांक के साथ आयोग का यह संकल्प पूरा होने जा रहा है। हमारा दृढ़ विश्वास है कि यह पत्रिका मानव अधिकारों पर सोच विचार को आगे बढ़ाने में महत्वपूर्ण योगदान करने में सहायक सिद्ध होगी।

यह गर्व का विषय है कि प्रसिद्ध समाज सेविका, लेखिका एवं ज्ञानपीठ पुरस्कार विजेता, श्रीमती महाश्वेता देवी ने आयोग के विशेष अनुरोध पर पत्रिका के लिए सलाहकार मंडल की सदस्य एवं "मानद मुख्य संपादक" होना स्वीकार किया और पत्रिका के स्वरूप एवं लेखों आदि के संबंध में अपने बहुमूल्य सुझाव दिए। इसके लिए आयोग उनका विशेष रूप से आभारी है। इस पत्रिका में मानवाधिकार तथा अन्य क्षेत्रों से जुड़े जिन विद्वानों ने अपना सारगर्भित लेख भेजकर योगदान दिया है मैं उन सभी महानुभावों को भी धन्यवाद देता हूँ।

मैं आशा करता हूँ कि यह प्रयास समाज के सभी वर्गों में मानवाधिकारों के प्रति जागरूकता एवं शिक्षा के प्रचार प्रसार में उपयोगी सिद्ध होगा।

(डॉ. न्यायमूर्ति ए.एस. आनन्द)
अध्यक्ष
राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग

संपादकीय

राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग की वार्षिक हिन्दी पत्रिका का प्रवेशांक आपके हाथों में प्रस्तुत करते हुए अपार हर्ष हो रहा है।

प्रथम प्रसव की पीड़ा, उल्लास, चिन्ता, अपेक्षा, भय एवम् अन्य अव्यक्त भावों, जिन्हें एक भुक्त भोगी ही जान सकता है, के साथ यह नवजात आपके सामने है।

हिन्दी में इस पत्रिका का प्रकाशन अपने आप में एक घटना है। हिन्दी केवल देश के सबसे बड़े भूभाग की भाषा ही नहीं है, वस्तुतः देश के अनेक सुदूर प्रान्तों में बोली व समझी जाती है। मानव अधिकारों के प्रति जागरूकता बढ़ाने की दिशा में हिन्दी को साथी बनाना न केवल आवश्यकता है वरन् उपलब्धि है।

अन्य नव विचारों की भांति मानव अधिकार भी मूल रूप से पश्चिम सभ्यता की देन माने जाते रहे हैं। अंग्रेजों ने खासतौर पर अपने शासन काल में इस प्रवृत्ति को बढ़ावा दिया। उनके अनुसार तो यह देश अज्ञानता के गर्त में डूबा हुआ था और गोरे प्रभुओं ने कृपा करके इसे गर्त से निकाला परन्तु तथ्य विपरीत है।

यूरोप में मानव अधिकारों को सर्व–प्रथम संज्ञान देने का श्रेय मैग्ना कार्टा (Magna Carta - "Great Charter") को प्राप्त है। 1215 में सामन्तों (Feudal Lords) और इंगलैंड के राजा के बीच एक समझौता हुआ था। इसी समझौते में अन्य बातों के अतिरिक्त, स्वतंत्र व्यक्ति की गिरफ्तारी केवल कानून के अन्दर करने का प्रावधान किया गया था। ट्यूडर शासनकाल में सामन्तवाद (feudalism) का ह्रास होने के कारण इसे लगभग भुला दिया गया। 17वीं शताब्दी में पुनः प्रजातन्त्र बहाल होने पर इसे एक प्रजातान्त्रिक अभिलेख के रूप में स्थापित किया गया। 18वीं सदी के चौथे चरण में हुई फ्रांसीसी क्रांति, अमरीकी स्वतंत्रता संग्राम तथा नेपोलियन की यूरोपीय देशों की विजय ने इनके मूल सिद्धांत मानव की स्वतंत्रता, समानता, जीने के अधिकार को यूरोप के बीच प्रचलित कर दिया। अमरीकी स्वतंत्रता संग्राम और दोनों विश्व युद्धों की ज्वाला और विश्व स्तर पर हुए मानव अधिकारों के हनन को बीसवीं सदी के मध्य में एक जीवन्त एवम् महत्वपूर्ण मुद्दा बना दिया। इस पृष्ठ भूमि में 1948में एक पक्षीय मानव अधिकार घोषणा पत्र (Unilateral Declaration of Human Rights) द्वारा संयुक्त राष्ट्र (United Nations) ने मानव अधिकारों की घोषणा की जिसमें, जीने का अधिकार, स्वतंत्रता, शिक्षा, समानता, धर्म की स्वतंत्रता, संघ बनाने, सूचना पाने तथा राष्ट्रीयता का अधिकार प्रमुख अधिकार स्वीकार किए गए। जीवन के अधिकार में गरिमामय जीवन शामिल था। इन अधिकारों को हमारे संविधान में मूल अधिकारों एवम् राज्य के नीति निर्देशक सिद्धान्त (Directive Principles of State Policy) के रूप में मान्यता दी गयी। समय–समय पर संयुक्त राष्ट्र अनेक प्रस्तावों तथा घोषणाओं के द्वारा इनकी पुष्टि करता रहा है।

पाश्चात्य सभ्यता में मानव अधिकारों को भले ही मैग्ना कार्टा के माध्यम से पूर्ण रूप मिला हो, पर भारत में इनका इतिहास अत्यन्त प्राचीन है।

आदि मानव स्वतंत्र विचरण करता था और प्रकृति प्रदत्त फल फूल उसका भोजन था, धीरे-धीरे वन्य पशुओं एवम् अन्य से उत्पन्न असुरक्षा की भावना से ग्रसित हो उसने समूह में रहना शुरू किया। पहले परिवार बना फिर ग्राम, जो प्रायः एक ही मूल परिवार का बृहत् रूप होता था। पहले परिवार का प्रधान बना, फिर परिवार मिलकर बना-ग्राम का प्रधान, जो ग्रामीण कहलाया। ग्रामों के समूह राजा का चुनाव करने लगे। जिसका मुख्य कार्य था उसके अधीन ग्राम समूही के प्रत्येक व्यक्ति तथा उसकी सम्पत्ति की सुरक्षा। इस प्रकार राजा, सभा तथा मानव के अधिकारों की यात्रा शुरू हुई।

आर्यों का, अपितु संसार का सबसे पुराना ग्रन्थ है ऋग्वेद। यह कितना प्राचीन है इसका निर्णय अभी नहीं हो पाया है। मैक्स मूलर ने अपनी एक परिकल्पना के अनुसार वेद को 1200 वर्ष ईसा पूर्व माना था। पर बाद में उन्होंने अपनी परिकल्पना को रद्द कर दिया और कहा कि वेद कितने पुराने हैं इसका निर्णय शायद कभी नहीं हो सकेगा। कुछ भी हो, हमें ऋगवेद संहिता में मानव सभ्यता के उषाकाल की स्पष्ट झलक मिलती हैं। इस प्राचीन समय में हमें राजा, अधिकार, प्रजा के स्पष्ट उल्लेख मिलते हैं। इसमें हमें एक विकसित शासन प्रणाली मिलती है। राजा एक प्रधान कार्मिक था वह प्रजा द्वारा सर्व सम्मति से चुना जाता था। इस प्रकार हमें वेद में हॉब्स, लाफक तथा रूसों के सामाजिक समझौते की एक हल्की झलक मिलती है- जिसमें व्यक्तियों ने एक समझौते के तहत् अपने कुछ अधिकार राज्य/राजा को दिए थे। बदले में राज्य/राजा का प्रधान कार्य सुरक्षा प्रदान करना था। इस वैदिक राजा (राजा, सभा) के निम्न मुख्य कर्तव्य वेदों में अंकित हैं :-

1. प्रयं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये।

(अथ. 19.62.1)

सभी के प्रिय रहें। आर्यों तथा शूद्रों में समान रूप से प्रिय रहें।

2. यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्ययज्यौ चरत सह।

(यजु. 20.25)

ब्रह्म तथा क्षत्र अर्थात ज्ञान और शक्ति का सहयोग हो। ज्ञान जहां हो वहां शक्ति हो तथा शक्ति जहां हो वहां ज्ञान हो। अपने कर्त्तव्य का ज्ञान ही काफी नहीं है, उसे कार्य रूप देने के लिए शक्ति आवश्यक है। अर्थात् शक्ति का दुरूपयोग न हो।

3. असि दभ्रस्य चिद् वृधः।

(ऋ. 1.81.2)

प्रजा में प्रत्येक को भोजन मिले, ऐसी व्यवस्था राजा को करनी है

4. यत्र शुल्को न क्रियतें अबलेन बलीयसे।

(अथ. 3.29.3)

सबल, दुर्बल को न सता सके इस मंत्र का भाव है कि राजा को निष्कलंक रीति से प्रजा की रक्षा करनी चाहिए। राजा का संरक्षण इस प्रकार होना चाहिए कि किसी निर्बल से सबल कोई शुल्क प्राप्त न कर सके। "शुल्क" में सभी प्रकार के लाभ समाहित हैं।

5. यूयं धत्थ राजानं श्रुष्टिमन्तम्। (ऋ 5.54.14) सेना सन्तुष्ट रहनी चाहिए। सेना उसी राजा की रक्षा करती है जो उसे अन्न देता है।

6. सा नो भूमिर्वर्धयद् वर्धमाना। (अथ. 12.1.13)

आज जो प्रजा के कर्त्तव्यों की चर्चा होती है वेदों में उसका भी उल्लेख है। 'वह बढ़ती हुई मातृभूमि हमें भी बढ़ावें'। अर्थात प्रजा अपनी वृद्धि चाहती है तो पहले मातृभूमि की वृद्धि होनी चाहिए।

7. ब्रह्मचर्येणा तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति।

(अथ. 11.5.17)

राजा और प्रजा दोनों नियन्त्रण में रहें अर्थात् अति न करें। दोनों ही अपने विचार और आचरण में संयम बरतें।

इतना ही नहीं वेदों में राज्य, राजा, नेता, राज मंत्रियों के गुणों का भी उल्लेख किया गया है:–

सत्यं बृहद्यतमुग्रं, दीक्षा तपो, ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं सा नो धारयन्ति। सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्नयुरूं लांकं पृथिवीनः कृणोतु (अथ. 12.1.1)

1. वे सत्य पर आधारित हो। राज कर्मी सत्य की तह तक जाने के प्रयास में लगे रहे हैं।
2. उन्हें सत्य का ज्ञान हो अर्थात् उन्हें अच्छे बुरे की पहचान करने का ज्ञान हो।
3. उनमें तेज हो, बल हो।
4. उनमें तप हो, जीवन में सादगी और सहनशीलता को तप कहा गया है।
5. उनमें ब्रह्म अर्थात् ज्ञान हो। सत्ता प्रजा को ज्ञानी लोगों को सौंपनी चाहिए।
6. उनमें दीक्षा हो। अर्थात् किसी कार्य को हाथ में लेकर पूरा करने का दृढ़ संकल्प हो।
7. यज्ञ भावना हो। यज्ञ का अर्थ है लोक कल्याण की भावना से समुदाय के हित में किया गया कार्य। जैसे आज कन्या विवाह को मदद देना यज्ञ कार्य कहलाता है।

राजा के पाँच प्रधान गुण बताये गये हैं :–

भद्रमिच्छन्त ऋषयः स्वर्विदस्तपो दीक्षामुपनिषेदुरग्रे। ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातं तदस्मै देवा उपसंनमन्तु (अथ. 19.41.1)

1. वे दूरदर्शी हों।
2. वे प्रजाजनों का भला चाहने वाले हों
3. उनमें स्वार्थ न हो, वे परोपकार की भावना से कार्य करें।
4. प्रजा की भांति वे भी तपवान हों।
5. प्रजा की भांति वे भी दीक्षावान हो अर्थात् दृढ़ संकल्प वाले हों।

राजकर्मियों के निम्न सात गुण बताये गये हैं :

(ऋ 1.84.16)

1. वे अनेक प्रकार के कार्य करने में कुशल हों।
2. वे ज्ञानवान तथा बुद्धिमान हों ताकि प्रजा पर उनका प्रभाव पड़ सके।
3. बुरी बातों पर क्रोध करने वाले हों। अर्थात् अपने कार्यक्षेत्र में किसी बुरी बात/ व्यक्ति को सहन न करें।
4. प्रजा को सुखी बनाने की प्रबल भावना वाले हों।
5. वे सदाचरण, सत्य व्यवहार के संरक्षक तथा संवर्धक हो।

जब देश में ऐसी प्रजा, नेता और कर्मचारी हैं तो प्रजा का धर्म है कि वे उनके आदेशों का पालन करें यानि देश सर्वोपरि है। (ऋ. 19.41.1)

ये सभी बातें वैदिक युग में जितनी मान्य थी उतनी ही आज भी है। इन सबका एक उद्देश्य है, जो हमारे राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग का प्रतीक भी है– "सर्वे भवन्तु सुखिनः" – सभी सुखी हों। सबके अधिकारों का समान रूप से संरक्षण तथा संवर्धन हो। किसी को कोई पीड़ा न हो। राम राज्य की कल्पना का मूल भी यही है।

ऋग्वेद का अन्तिम सूक्त हमारे विषय के पूर्ण रूपेण अनुकूल है – (ऋ 10.191)

- सब मिलकर रहें। परस्पर मिल कर प्रेमालाप करें। सब समान मन होकर ज्ञान प्राप्त करें। पूर्व की भाँति .... एकमत होकर .... सब अपना कार्य करें।
- हम सब की प्रार्थना समान हो। परस्पर मिलन भी भेद–भाव से रहित एक सा हो, विचार प्रदान का स्थान एक ही हो। अपना मन–मनन करने का साधन, अंतःकरण, चित्त–विचार से उत्पन्न, ज्ञान, एक विध हों। ....
- तुम्हारा संकल्प एक समान रहे। तुम्हारे हृदय एक समान हो। तुम्हारे मन एक समान हों, जिससे तुम्हारा कार्य पूर्ण रूप से संगठित हो।
- सहृदय सांमनस्यमविद्वेष कृणोमि वः अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवा हत्या। (अथ0 3.30.1) । तुम में हृदय की एकता हो, मन की एकता हो। मैं तुम्हारे अन्दर अविद्वेष की भावना चाहता हूँ, तुम एक दूसरे को प्रेम से चाहो, जिस प्रकार एक गौ अपने नये पैदा बछड़े को चाहती है।

मानव धर्म– मानव अधिकार की भावना किसी भी धर्म में अज्ञात नहीं है चाहे वह ईसा मसीह का 'अपने पड़ोसी से प्रेम करो' हो या कुरान शरीफ का 'तुम अपने धर्म में, मैं अपने धर्म में। सबका सन्देश एक ही है– प्रेम, मानव प्रेम।

अब चले वर्तमान की ओरः

मानव अधिकारों के संरक्षण एवं संवर्धन की चर्चा पुलिस की भूमिका की चर्चा किए बिना पूरी नहीं हो सकती। राज्य सत्ता की शक्ति का प्रतीक होने के कारण प्रत्येक लोकतान्त्रिक

देश में नियमों और कानूनों का पालन कराने के लिए पुलिस द्वारा न्यूनतम बल प्रयोग अथवा दबाव दिया जाता है। हमारे देश में अन्य लोकतान्त्रिक देशों की अपेक्षा ऐतिहासिक परिस्थिति एवं पुलिस की भूमिका, ऐसे ही अन्य देशों में भिन्न रही है। और स्वयं अंग्रेजों ने, जिनका लगभग एक सौ पचास वर्षों तक आधिपत्य हमारे देश में बना रहा अपनी पुलिस व्यवस्था को इस देश में लागू नहीं किया, केवल तीन तत्कालीन महानगरों मुम्बई, कोलकाता, चेन्नैइ, को छोड़कर जहां अधिकांश मात्रा में अंग्रेजों के बसे रहने और उनके विरोध के कारण लंदन पुलिस व्यवस्था कायम हो सकी, देश के अन्य भागों में मजिस्ट्रेट के पूर्ण रूपेण अधीन पुलिस बल की व्यवस्था की गई। इसके कुछ प्रमुख कारणों में से एक तो 1857 में भारतीयों द्वारा अंग्रेजी राज्यों के विरूद्ध स्वतन्त्रता संग्राम छेड़ना था और दूसरा कारण था उनके प्रशासन का मूल उद्देश्य, जो कर (Tax) इकट्ठा करना था। नाम ही से स्पष्ट है कलेक्टर का काम 'कर' इकट्ठा करना था अतः जिले की सारी शक्तियाँ न्यायिक एवं पुलिस उसी में समाहित कर दी गई, जिसका सीधा अर्थ यह था कि पुलिस को विदेशी शासकों के हित साधन में पूर्ण सहयोग करना था। विदेशी सत्ता के हाथ का उपकरण (Tool) होने के कारण यह जनता से सदैव दूर रही और जन सामान्य ने इसे सन्देह और हिकारत की नजर से देखा। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भी इस दिशा में कोई ठोस कदम नहीं उठाये गए हैं। सरकार और जनता दोनों की आकांक्षाएं और अपेक्षाएं पुलिस से बदल चुकी हैं। अतः यह समय की आवश्यकता है कि पुलिस को वातावरण के अनुकूल बदलने के लिए तैयार किया जाए। इसके लिए इसे आम नागरिक के अधिकार के प्रति संवेदनशील बनाने के लिए भरती, शैक्षणिक योग्यता, प्रतियोगी परीक्षा, प्रशिक्षण में ठोस कदम उठाने की आवश्यकता है। साथ ही पुलिस के प्रति बौद्धिकता (mind set) को बदलने की आवश्यकता है।

हमें प्रवेशांक के लिए अनेक ख्यातिप्राप्त विशेषज्ञों की रचनाएं प्राप्त हुईं। अधिकांश इस अंश में शामिल हैं। जो विलम्ब या अन्य कारणों से प्रकाशित नहीं हो सकीं वे अगले अंक के लिए विचारार्थ रख ली गयी हैं। हम सभी लेखक महानुभावों के प्रति आभार प्रदर्शित करते हैं।

इस पत्रिका के प्रकाशन से राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग ने एक नये और अनबुझे पथ पर कदम रखा है। हमारी आशा है, और विश्वास है, वर्ष प्रति वर्ष यह नये पथ पर अग्रसर होता रहेगा, और अपना "पथ प्रदीप" भगवान बुद्ध के शब्दों में 'अप्प दीपो भव' स्वयं बनेगा और आगे चलता रहेगा– मानव अधिकारों की राह को प्रकाशित करते और उसकी चेतना को चारों ओर फैलाते हुए।

(संतोष कुमार)

महानिदेशक

लेख

भारत में मानव अधिकार आयोग की भूमिका

न्यायमूर्ति डॉ. ए.एस. आनन्द

दो विश्व युद्धों में हुई जान और माल की तबाही के दिल दहलाने वाले अनुभवों के पश्चात् लगभग साढ़े पाँच दशक पहले अन्तरराष्ट्रीय मानव अधिकार मानदण्डों को बल मिला। विश्व समुदाय, मानव द्वारा अपने आपको तबाह करने की क्षमता से भयभीत हो गया। मानवाधिकार की अवधारणा को औपचारिक एवं महत्त्वपूर्ण अभिव्यक्ति सर्वप्रथम संयुक्त राष्ट्र चार्टर नामक आधिकारिक अंतरराष्ट्रीय दस्तावेज़ में मिली। चार्टर का अनुगमन करते हुए 10 दिसम्बर 1948 को पारित हुआ मानवाधिकारों का सार्वभौमिक घोषणा पत्र मूल्यों के निर्धारण का घोषणा पत्र था तथा इसके पश्चात्, सन् 1966 में दो प्रतिज्ञापत्रः पहला नागरिक और राजनैतिक अधिकारों से संबंधित और दूसरा आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक अधिकारों के बारे में था।

संयुक्त राष्ट्र चार्टर में मानव कुटुम्ब के समस्त सदस्यों : बड़े अथवा छोटे, गुणी अथवा अवगुणी, धनी अथवा निर्धन, बुद्विमान अथवा मूर्ख के समान एवं अहरणीय अधिकारों एवं जन्म, हैसियत, नस्ल, रंग, लिंग, भाषा, धर्म या राजनैतिक एवं अन्य मतों के बावजूद अंतर्निहित प्रतिष्ठा की उद्घोषणा एवं स्थापना करके आने वाली पीढ़ियों को आत्मविनाश से बचाने की आशा की गई थी। दुर्भाग्य से, इस सहस्राब्दि के आरम्भ में, कोई भी राष्ट्र मानव अधिकारों के अपने रिकार्ड को गर्व से नहीं देख सकता। अनुमान बताते हैं कि गत शताब्दी में सशस्त्र लड़ाइयों में लगभग 10 करोड़ लोग मारे गए और 13 करोड़ अन्य मौतें राजनीति से जुड़ी हिंसा में हुई। ये घटनाएं एक ओर मानव अधिकारों के संरक्षण तथा प्रवर्धन और दूसरी ओर स्वतन्त्रता, न्याय और शान्ति के मध्य निकट संबंध सिद्ध करती हैं।

यद्यपि भारत में मानव अधिकार आंदोलन ने लम्बा रास्ता तय किया है और विधायिकाओं द्वारा अनेक मानव–अधिकार केन्द्रित क़ानून पारित किये गए हैं, किन्तु दुर्भाग्य से ये अधिकार केवल क़ानून की पुस्तकों में विद्यमान हैं और इनको वास्तव में नज़र अंदाज़ किया जाता है। भारत में ग़रीबी की दशा शोचनीय है और इस तथ्य को कोई नकार नहीं सकता कि ग़रीबी सभी अधिकारों का नाश करने वाली है। इनके अतिरिक्त, भारत में मानव अधिकारों की सबसे बड़ी और अग्रणी चुनौती, माता और बच्चों की देखभाल, बाल शिक्षा, बाल–श्रम, बाल–दुर्व्यवहार, बंधुआ मज़दूरी, महिलाओं का देह–व्यापार और अल्प संख्यकों और अनुसूचित जातियों और

दलितों जैसे समाज के कमज़ोर वर्गों के संरक्षण में है। ये सामाजिक मुद्दे उत्कृष्टता के नहीं बल्कि प्रतिजीविता के मुद्दे हैं। जब तक मानवाधिकारों को सुशासन में केन्द्र-बिन्दु नहीं बनाया जाता तब तक न तो कोई प्रगति सम्भव है और न ही यह टिकाऊ हो सकती है क्योंकि आर्थिक विकास, मानव अधिकारों के प्रति सम्मान की आधार-रेखा के बिना टिकाऊ नहीं हो सकता।

पिछले वर्ष संयुक्त राष्ट्र महासभा द्वारा 'पेरिस सिद्धान्त' को पारित किए जाने की दसवीं वर्षगांठ मनाई गई। राष्ट्रीय संस्थानों के स्तर से जुड़े सिद्धान्तों, जो पेरिस सिद्धान्तों के नाम से जाने जाते हैं, 20 दिसम्बर, 1993 को महासभा द्वारा पृष्ठांकित किए गए थे। ये सिद्धान्त इस बात का समर्थन करते हैं कि राष्ट्रीय संस्थानों को मानवाधिकारों के प्रवर्धन और संरक्षण के लिए सक्षम बनाने की आवश्यकता है और संवैधानिक अथवा वैधानिक पाठों में स्पष्ट रूप से इन्हें यथासम्भव उल्लिखित जनादेश दिया जाए। इन सिद्धान्तों में अन्य बातों के साथ-साथ इस बात की व्यवस्था है कि राष्ट्रीय संस्थान स्थापित किए जाएँ और उन्हें प्रकार्यात्मक और वित्तीय स्वायत्तता दी जाए। भारत में राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग 1993 में स्थापित किया गया था और इसने आज अपने अस्तित्व के दस वर्ष पूरे कर लिए हैं और ग्यारहवें वर्ष में प्रवेश कर लिया है। यह ऐसा समय है जो हमें विचार और आत्मविश्लेषण करने का अवसर प्रदान करता है।

आयोग ने अपने दस वर्ष की छोटी यात्रा में किसी प्रकार के दबाव से स्वयम् को सुरक्षित रखा है और इस बात को आयोग के कार्य ज़ोर-शोर से और स्पष्ट रूप से दर्शाते हैं। जिस अधिनियम के अन्तर्गत इसका गठन किया गया है, उसके उपबन्धों से सुसज्जित होकर, आयोग ने देश के किसी भी भाग से मानव अधिकारों के उल्लंघन की सूचना मिलने पर उसे रोकने हेतु अपना सतत् प्रयास जारी रखा है। एक अरब से अधिक आबादी वाले देश में यह बहुत ही कठिन कार्य है। इस काम के परिमाण का आकलन इस तथ्य से हो सकता है कि आयोग को पिछले वित्त वर्ष में 47,000 शिकायतें प्राप्त हुई हैं जब कि इससे पिछले वर्ष इसे 70,000 शिकायतें प्राप्त हुईं थीं। आयोग मानव अधिकारों को अविचारणीय और अविभाज्य मानता है।

मानव अधिकारों का "बेहतर संरक्षण" और प्रवर्धन, आयोग का महत्त्वपूर्ण ध्येय है। आयोग का पक्का विचार है कि मानव अधिकारों के प्रति सम्मान, शांति और स्थिरता को बढ़ावा देने में कारगर योगदान देता है। आयोग चाहता है कि देश के नागरिकों के मानव अधिकारों के संरक्षण हेतु संघर्ष में विभिन्न दावेदार सक्रिय हों। विधान के अधीन यह हमारा कर्त्तव्य है कि हम सरकारों को याद दिलाएं कि वह अपने नागरिकों के अधिकारों की रक्षा करने के लिए अपने वचनों को पूरा करें और अपनी वैधानिक और संवैधानिक बाध्यताओं का सम्मान करें। नागरिक देश की आम प्रजा नहीं है बल्कि उनको अधिकार प्राप्त हैं कि देश और देश के अनेक संस्थानों द्वारा इन अधिकारों का सम्मान किया जाए।

हर वर्ष के गुजरने के साथ, आयोग में यह धारणा बढ़ी है कि मानवीय प्रतिष्ठा के साथ जीने के अधिकार हेतु मानव के पूर्ण व्यक्तित्व का सम्मान अपेक्षित है। और इससे एक

अन्य निष्कर्ष निकलता है कि आयोग के लिए यह अनिवार्य है कि वह नागरिक एवं राजनैतिक अधिकारों के समान ही आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक तथा सामूहिक अधिकारों पर भी ध्यान केन्द्रित करे। अधिकारों की अविभाज्यता और परस्पर संबंधित स्वरूप एक वास्तविकता है और उनके बीच समरसता है। आज मानव अधिकारों की अनेक असफलताओं में से आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों में असफलता विशेष रूप से पूरे राष्ट्र में व्याप्त है। हमारे लाखों देशवासियों को शिक्षा, स्वास्थ्य, रोज़गार (भोजन, कपड़ा, मकान आदि) के अधिकार की मनाही मानव अस्तित्व को हाशिये पर ला खड़ा करती है। ग़रीबी मानवाधिकारों का सबसे गंभीर उल्लंघन है। हर प्रकार से एक मनुष्य को वंचित रखना मानव अधिकार का हनन है और इसके लिए सभ्य समाज में कोई स्थान नहीं है। समाज के कमज़ोर वर्ग इससे अधिक पीड़ित होते हैं जो कि हमारे समाज के समक्ष आ रही गंभीर सामाजिक और आर्थिक समस्याओं का मूल कारण है। ऐसी समस्याओं को हल करने का कारगर ढंग और हमारे लोगों के सभ्य अस्तित्व को सुनिश्चित करने का सही तरीक़ा समाज के कमज़ोर वर्गों को मानवाधिकारों की पूर्ण गारंटी देना है।

ये विचार आंध्र प्रदेश और कर्नाटक के किसानों द्वारा की गई आत्महत्याओं के मामलों में आयोग के हस्तक्षेप का आधार है। इन्हीं विचारों के मद्देनज़र आयोग ने देश के अनेक भागों में भुखमरी से हुई मौतों के मुद्दों को गहन समीक्षा के लिए उठाया। आयोग ने कश्मीरी प्रवासियों के लिए शिविरों की हालत पर चिंता जताई और जम्मू और कश्मीर सरकार से इन कमियों को दूर करने के लिए उपाय करने का आग्रह किया।

महिलाओं और बच्चों के देह व्यापार की गंभीर समस्या आयोग के लिए चिंता का विषय रही है। संयुक्त राष्ट्र उच्चायुक्त के सुझाव के प्रत्युत्तर में आयोग में देह व्यापार संबंधी एक केन्द्र बिन्दु स्थापित किया गया है और इसका नेतृत्व आयोग के एक सदस्य कर रहे हैं।

बालिकाओं के संरक्षण, बालश्रम के उन्मूलन, स्त्रियों के प्रति हिंसा, हिरासतीय हिंसा और अन्वेषण के दौरान दुर्व्यव्हार के क्षेत्र में अनेक चुनौतियां हैं। राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग इन मुद्दों को गंभीरता से ले रहा है। वास्तव में, आयोग उच्चतम न्यायालय के अनुदेश के अंतर्गत बाल और बंधुआ श्रम से जुड़े कार्यक्रमों की निगरानी करता है।

यह आयोग का विश्वास है कि सभी अधिकार परस्पर संबंधित तथा परस्पर निर्भर हैं। बंधुआ और बाल मज़दूरी के उन्मूलन, बच्चों, महिलाओं, दलितों, अल्पसंख्यकों और अन्य उपेक्षित समूहों के अधिकारों के लिए काम करने के अलावा आयोग ने लोक–स्वास्थ्य, भोजन का अधिकार आदि जैसे अन्य क्षेत्रों में भी कार्य किया है। आयोग ने विद्यालयों से लेकर विश्वविद्यालयों तक के पाठ्यक्रम में मानव अधिकार शिक्षा को शामिल करने का ज़ोर देकर देश में मानव अधिकारों की संस्कृति को बढ़ावा देने का प्रयास किया है। आयोग ने निचले स्तर पर मानव अधिकारों के प्रति जागरूकता फैलाने के प्रयासों में गैर सरकारी संगठनों को शामिल किया है। आयोग ने जनसेवकों, पुलिस और सुरक्षा कार्मिकों और न्यायपालिका के सदस्यों में अपेक्षाकृत अधिक संवेदनशीलता जगाने हेतु उनके प्रशिक्षण कार्यक्रमों में आवश्यक परिवर्तन लाने

का प्रयास किया है।

आयोग समाज के सबसे कमज़ोर वर्गों विशेषकर अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के अधिकारों के बारे में विशेष रूप से चिंतित रहा है। अपनी वैधानिक ज़िम्मेदारी को पूरा करने में आयोग ने अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के प्रति भेदभाव को समाप्त करने और इन समुदायों के सदस्यों को बड़े पैमाने पर प्रभावित करने वाली दो घृणित प्रथाओं अर्थात सिर पर मैला ढोना और बंधुआ मज़दूरी के उन्मूलन को उच्चतम प्राथमिकता दी है। यह वास्तव में शर्म की बात है कि स्वतंत्रता के 57 साल बाद भी सिर पर मैला ढोना और शुष्क शौचालय निर्माण (निषेध) अधिनियम, 1993 के लागू होने के दस वर्ष बाद भी देश के अनेक हिस्सों में सिर पर मैला ढोने की "अमानवीय" प्रथा जारी है। आयोग सभी सरकारी तथा गैर–सरकारी संगठनों के साथ निकट से समन्वय बनाए हुए है ताकि इन प्रथाओं को समाप्त किया जा सके तथा इनसे प्रभावित लोगों का पुनर्वास हो सके।

विकलांगों के अधिकारों के संरक्षण के लिए उठाए गए क़दमों के अतिरिक्त आयोग ने विकलांगता की तर्ज़ पर अंतरराष्ट्रीय संधि के पक्ष में समर्थन जुटाया है। आयोग ने मानवाधिकार उच्चायुक्त के कार्यालय, राष्ट्रीय मानवाधिकार संस्थानों का एशिया–प्रशांत मंच तथा ब्रिटिश परिषद् के सहयोग से राष्ट्रकुल और एशिया–प्रशांत के राष्ट्रीय संस्थानों की अंतरराष्ट्रीय कार्यशाला मई 2003 में आयोजित की थी। आयोग ने जोर दिया कि विकलांगता के मुद्दों को "दर्जा, प्राधिकार तथा दृश्यता" देने के लिए एक अलग अन्वेषण आवश्यक है और इसे विद्यमान अंतरराष्ट्रीय अभिसमयों तथा निगरानी ढांचे में सुधार करके प्राप्त नहीं किया जा सकता तथापि एक व्यापक संधि स्पष्ट अर्थों में पक्षकार देशों को उनकी बाध्यताओं को समझने में सक्षम करेगी और विकलांगता मिश्रित ढांचा और प्रकियाएँ विकसित करने के लिए स्पष्ट लक्ष्य निर्धारित करेगी तथा केवल कल्याण की बात से हटकर विकलांगों के अधिकारों पर ध्यान केन्द्रित हो पाएगा। मानवाधिकारों के संरक्षण में अपनी महत्त्वपूर्ण स्थिति को समझते हुए आयोग ने अंतरराष्ट्रीय समन्वय समिति जो "पेरिस सिद्धांतों" पर आधारित राष्ट्रीय मानव अधिकार संस्थानों को सृजित तथा सुदृढ़ करने की दृष्टि से स्थापित राष्ट्रीय मानव अधिकार संस्थानों की प्रतिनिधि निकाय है, की 1996–2000 तक अध्यक्षता संभाली है। आयोग ने अन्य राष्ट्रीय संस्थानों के पक्ष में अध्यक्ष के पद से स्वेच्छा से हटने का निर्णय लिया। एशिया–प्रशांत क्षेत्र में भी आयोग राष्ट्रीय संस्थानों के एशिया–प्रशांत मंच के माध्यम से सक्रिय भूमिका निभा रहा है। यह मंच इस क्षेत्र के राष्ट्रीय संस्थानों का समूह है। वर्तमान में आयोग इस मंच की अध्यक्षता कर रहा है।

वर्ष के दौरान आयोग ने निष्पक्ष विचारण के अधिकार, और आपराधिक विचारण में अपराध के साक्षियों और पीड़ितों की सुरक्षा से संबंधित मुद्दों को गंभीरता से लिया और आपराधिक न्याय प्रणाली की सक्षमता पर ध्यान दिया। आयोग का यह पुष्ट विचार है कि जब भी कोई अपराधी सज़ा से बच निकलता है तो समाज का बड़ा नुक़सान होता है क्योंकि अपराध के पीड़ित निरूत्साहित हो जाते हैं और अपराधियों को बढ़ावा मिलता है। इस विषय पर किसी प्रकार के क़ानून के अभाव में आयोग ने 31 जुलाई 2003 को उच्चतम न्यायालय

में विशेष अनुमति याचिका दायर की जिसमें आयोग ने सर्वोच्च न्यायालय से आपराधिक विचारण में अपराध के साक्षियों और पीड़ितों के संरक्षण से संबंधित दिशा–निर्देश और अन्य निर्देश निर्धारित करने का अनुरोध किया है जिनका पालन अभियोजन तथा विधि–प्रवर्तक अभिकरणों तथा अधीनस्थ न्यायपालिका द्वारा किया जा सकता है। यह आपराधिक न्यायप्रणाली की सक्षमता को बढ़ाने के लिए अनिवार्य समझा गया है।

मैं अब एक और पहलू का उल्लेख करना चाहता हूँ। इन दिनों आतंकवाद तथा "आतंकवाद के विरूद्व लड़ाई" के बारे में बहुत बातें होती रही हैं। आयोग का विचार है कि आतंकवाद मानव अधिकारों के लिए गंभीर ख़तरा है। अंतरराष्ट्रीय आतंकवाद उदार लोकतंत्रों के विरूद्व लड़ाई का आधुनिक रूप है। आतंकवादियों का ध्येय लोकतंत्र के ढांचे को ही नष्ट कर देना है और किसी लोकतांत्रिक देश के लिए अंतरराष्ट्रीय आतंकवाद को "किसी अन्य की" समस्या मानना बड़ी भूल होगी। आतंकवादी कृत्य लोकतांत्रिक समाज को विखंडित करने के प्रयोजन हेतु एक बड़े अभियान का हिस्सा है। इसलिए स्वतंत्र लोकतंत्रों को इसे मानना चाहिए कि अंतरराष्ट्रीय आतंकवाद एक सामूहिक समस्या है। जब एक स्वतंत्र राष्ट्र पर आक्रमण होता है तो बाकी देशों को भी समझना चाहिए कि यह लोकतंत्र पर आक्रमण है। बार–बार दोहराया गया यह वक्तव्य कि "एक व्यक्ति का आतंकवादी दूसरे व्यक्ति का स्वतंत्रता सेनानी है", कुछ और नहीं हिंसा के आतंकवादी रूपों की नैतिकता के बारे में एक व्यापक भ्रम का ही रूप है। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में न्यायालय का हाल ही में आया एक निर्णय इस दिशा का सूचक है।

मानवाधिकारों की असमानता में एक दुर्भाग्यशाली रुख धार्मिक कट्टरवाद और "अपनी इच्छा" को थोपने की आतंकवादी कार्रवाई है। जबकि सभी धर्म सद्भाव और भाई–चारे में विश्वास रखते हैं, केवल भटके हुए कट्टरपंथी ही हैं जो मानव जीवन का मूल्य नहीं समझते और धर्म के नाम पर मानव अधिकारों पर हर प्रकार के हमले करते हैं। वे बिना किसी औचित्य के अपने भाईयों के मानव अधिकारों का उल्लंघन करते हैं। इस प्रकार के आतंकवाद के बारे में समाज का प्रत्युत्तर स्पष्ट तथा कारगर होना चाहिए। ऐसे कारनामों के प्रति समाज की संवेदनहीनता कट्टरवाद को बढ़ावा देती है–समाज द्वारा इन कार्रवाईयों की ऊंचे स्वर में निंदा उन्हें निरूत्साहित कर सकती है। एक हिंसक समूह चाहे उसकी राजनीति कुछ भी हो, को किसी की हत्या करने का कोई अधिकार नहीं है तथा ऐसे अधिकार का दावा करने वाले को शांति से रहने वाले बहुसंख्यक नागरिकों के अधिकार को छीनने की अनुमति नहीं दी जा सकती।

राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग को सौंपी गई जिम्मेदारी के मद्देनजर, आयोग को मानवाधिकारों की रक्षा में लगातार सतर्क रहने और खुले ढंग से बोलने की आवश्यकता है। लोकतांत्रिक राजनीति में यह आवश्यक है कि आलोचना को सम्मान दिया जाए, चाहे यह पूरी तरह से पक्ष में न हो। सभ्यता और पारस्परिक सम्मान के साथ भिन्न विचार रखने की क्षमता लोकतांत्रिक समाज की पहचान है तथा समाज की भलाई के लिए आवश्यक है। मुझे इस मुद्दे पर भारत के उच्चतम न्यायालय द्वारा दिए गए संदेश को याद दिलाने के

अलावा कुछ और नहीं कहना है, यह संदेश 15 वर्ष से अधिक पहले 1986 में किसी और संदर्भ में दिया गया था। सर्वोच्च न्यायालय ने कहा था :

"हमारी परम्परा सहनशीलता सिखाती है ;
हमारा दर्शन सहनशीलता का उपदेश देता है ;
हमारा संविधान सहनशीलता अपनाता है ;
हमें इसे कम नहीं करना चाहिए"।

हमें प्रत्येक क्षण बुद्धिमत्ता के इन शब्दों को याद रखने की आवश्यकता है।

अपने अधिकार जानें

न्यायमूर्ति श्रीमती सुजाता वी. मनोहर

हम संयुक्त राष्ट्र के मानव अधिकार शिक्षा दशक के अन्तिम वर्ष में प्रवेश कर रहे हैं। मानव अधिकारों के बारे में, शिक्षा और अधिकारों के बारे में जागरूकता पैदा करना अधिकारों को प्राप्त करने और उनके प्रवर्तन की दिशा में पहला अनिवार्य कदम है। अतः मानवाधिकार संरक्षण अधिनियम के अंतर्गत राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग के अभिव्यक्त जनादेशों में से एक मानव अधिकारों के प्रति शिक्षा और जानकारी फैलाना है।

20वीं शताब्दी के पूर्वार्ध के दौरान हुई हिंसा, विनाश और अमानवीय जनसंहार के हृदय–विदारक अनुभवों से मानव जाति को यदि कोई शिक्षा मिली तो वह है एक ऐसा वैश्वीय तन्त्र स्थापित करना जिसमें मानवता के प्रति ऐसे जघन्य अपराधों की पुनरावृत्ति न हो सके। मानव अधिकारों का सार्वभौमिक घोषणापत्र (Universal declaration of Human Rights) और इसके बाद की घोषणाएं और नागरिक, राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अधिकारों की व्याख्याओं द्वारा ऐसी विश्व व्यवस्था को स्थापित करने का स्वप्न था जहाँ भागीदारी वाले लोकतंत्र के राजनैतिक ढाँचे में व्यक्ति की स्वतन्त्रता सुनिश्चित हो, जहाँ सभी प्रतिष्ठा के साथ जीवन जी सके, जहाँ आर्थिक विकास और खुले बाजार की अर्थव्यवस्था को सही ढंग से और बराबर बाँटा जा सके और जहाँ मानवाधिकारों के संरक्षण और संवर्धन के लिए सामाजिक और सांस्कृतिक मानदण्डों को पुनः तैयार किया जा सके।

आरम्भ में, 20वीं शताब्दी की बड़ी अवधि, वास्तव में मानवाधिकारों के वक्तव्य और व्याख्या को ही समर्पित रही। किन्तु, अधिकारों की भाषा को प्रयोग करने का लाभ यह है कि यह अधिकारों के प्रवर्तन अथवा प्रकटीकरण को प्रमुखता प्रदान करती है। अब लाखों लोगों के दैनिक जीवन में इन अधिकारों को प्राप्त करने पर जोर दिया जा रहा है चाहे वे गरीबी में रह रहे हों और कमी का सामना कर रहे हों, अथवा समृद्ध समाज में रह रहे हों जहाँ दुर्भाग्य से अभी भी कमजोर वर्गों के लिए सामाजिक और आर्थिक रूकावटें बरकरार हैं, अथवा जहाँ आर्थिक तंत्र केवल अपेक्षाकृत सुदृढ़ वर्ग की अपेक्षाओं के अनुरूप है और जहाँ अन्यों को यथाशक्ति तन्त्र के भीतर अपने आपको समायोजित करना पड़ता है, जिससे उनको बहुमूल्य मानव अधिकारों से हाथ धोना पड़ता है और कठिन और अवांछनीय समझौते करने पड़ते हैं।

इसलिए मानव अधिकार के मानदण्डों को कार्यान्वित करना अब अत्यधिक महत्वपूर्ण हो गया है, चाहे हम विश्व के किसी भी हिस्से में रह रहे हों। मानव अधिकारों को प्राप्त

करने की क्रिया अब तेज़ होनी चाहिए और विश्व–समुदाय का ध्यान इस ओर जाना चाहिए, यद्यपि यह क्रिया अलग–अलग समाजों के लिए अलग–अलग हो सकती है। इन मानव अधिकार आदर्शों को वास्तविकता में बदलना एक कठिन कार्य है क्योंकि इनके लिए कई मोर्चों पर कार्रवाई अपेक्षित होती है और इसमें सरकार, प्रशासकों, विधि–प्रवर्तकों, न्यायपालिका, गैर–सरकारी संगठनों, नीति निर्माताओं और आर्थिक क्षेत्र के विशेषज्ञों तथा सुविज्ञ और सजग सभ्य समाज की भागीदारी होनी चाहिए। मानव अधिकार शिक्षा, ऐसी बहुआयामी कार्यवाही सुनिश्चित करने हेतु अति आवश्यक हो गई है।

जबकि मानव अधिकार शिक्षा विद्यालयों में दी जानी आवश्यक है और इसे सभी आयु के बच्चों को, महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों में तथा अध्यापकों और प्रशिक्षकों को दिया जाना चाहिए। यह शिक्षा पुलिस, कारागार प्रशासकों जैसे विशेष समूहों, संवेदनशील वर्गों से संबंधित संस्थानों के प्रभारियों, सरकारी प्रशासकों और नीति निर्माताओं, विधायकों और न्यायपालिका को भी दिए जाने की आवश्यकता है। महिलाओं, बच्चों, बूढ़ों, भेदभाव बरती जाने वाली जातियों, आदिवासियों, विकलांगों और समाज के अन्य दलित वर्गों जैसे संवेदनशील वर्गों को सुविज्ञ और सशक्त बनाने की आवश्यकता है। यह शिक्षा केवल अधिकारों की जानकारी मात्र नहीं है। इसका ध्येय दैनिक जीवन में अधिकारों के प्रभावों को समझाना और अधिकारों के लिए सम्मान पैदा करना होना चाहिए। यदि इस शिक्षा द्वारा सामाजिक परिवर्तन लाना है तो इसे नीतिबद्ध रूप में प्रत्येक समूह के लिए अभिकल्पित करना चाहिए और इसे संवेदनशील वर्गों में परिवर्तन, वैयक्तिक सशक्तीकरण और परिवर्तन के आंदोलनों में गठबंधन विकसित कर उन्हें सुदृढ़ बनाने हेतु नेतृत्व पैदा करने के लिए विकसित किया जाना चाहिए।

उदाहरण के लिए राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग भिन्न–भिन्न संदर्भों में और भिन्न–भिन्न पहलुओं से मानवाधिकारों की शिक्षा पर नज़र रख रहा है। उदाहरणार्थ, आयोग ने राष्ट्रीय अध्यापक शिक्षा अकादमी के सहयोग से मानवाधिकारों के बारे में अध्यापकों हेतु एक मैनुअल निकाला है। आयोग विश्वविद्यालय स्तर पर मानवाधिकार विधि और मानवाधिकार मुद्दों के अध्यापन हेतु विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के पाठ्यक्रम में समुचित सुधार करके एक पाठ्यक्रम तैयार करने में सक्रिय रहा है। आयोग ने मानवाधिकारों के मुद्दों पर भिन्न–भिन्न–सरकारी, गैर सरकारी अभिकरणों को संवेदनशील बनाने के लिए अनेक कार्यशालाएं आयोजित की हैं। उदाहरणार्थ आयोग का सामान्य रूप से मानवाधिकारों के मुद्दों पर और विशेष रूप से महिलाओं और बच्चों तथा देह व्यापार के शिकार लोगों के मानवाधिकारों के प्रति पुलिस को सुग्राही बनाने का कार्यक्रम है। जेल अधिकारियों और न्यायपालिका को लिंग विषयक, देह व्यापार और बाल अधिकारों के मुद्दों के बारे में संवेदनशील बनाने के लिए विशेष कार्यक्रम चलाए गए हैं। महिला और बाल विकास विभाग, भारत सरकार के सहयोग से मानवाधिकारों पर न्यायपालिका के लिए एक मैनुअल तैयार किया जा रहा है। मानवाधिकार मुद्दों को पुलिस प्रशिक्षण कार्यक्रमों और पुलिस मैनुअलों में शामिल किये जाने की कोशिश की गई है। उच्चतम न्यायालय द्वारा डी. के. बासु मामले में मानवाधिकारों के संरक्षण के लिए अभियुक्त से निपटने के लिए जारी दिशा–निर्देशों का व्यापक प्रचार किया गया है और पुलिस थानों से कहा गया है कि वे इन दिशा–निर्देशों को प्रदर्शित करें। मानवाधिकारों के महत्त्व के बारे में सामान्य

रूप से जन-चेतना पैदा करने और विशेष रूप से निकलांगों के संदर्भ में, दलितों और आदिवासियों के संदर्भ में और महिलाओं के प्रति हिंसा और अपराधों के संदर्भ में अनेक कार्यक्रम तैयार किए गए हैं।

आयोग का एक अनुसंधान कार्यक्रम भी है जिसमें मानवाधिकारों का उल्लंघन, उनका समाजिक-आर्थिक आधारीकरण और आर्थिक और जनसंख्या नीतियों तथा इस संदर्भ में क़ानून की जांच शामिल है। आयोग के सार्वजनिक स्वास्थ्य संबंधी कोर (core) समूह ने समय-समय पर समाज के शोषित और कमजोर वर्गों को प्रभावित करने वाले स्वास्थ्य संबंधी मुद्दों जैसे माताओं में रक्ताल्पता (anaemia) और मातृ तथा बाल-मृत्यु की जांच की है। बालिकाओं की शिक्षा और छुड़ाए गए बाल मजदूरों की शिक्षा ऐसे अन्य क्षेत्र हैं जहां विशेष प्रयास की आवश्यकता है। कार्य-स्थल पर यौन-उत्पीड़न के मामलों से निपटते समय प्रशासकों की शिक्षा भी आवश्यक मानी गई है।

मानव अधिकारों की जानकारी और जागरूकता उत्पन्न करने तथा मानव अधिकारों के प्रवर्धन के कार्यक्रमों को कार्यान्वित करने की प्रक्रिया में, अंतरराष्ट्रीय स्तर पर मानव अधिकारों के कुछ शत्रु सामने आए हैं, जैसे एक राष्ट्र से दूसरे राष्ट्र में देह-व्यापार और अवैध प्रवर्जन जैसे संगठित अपराध और सबसे ऊपर भ्रष्टाचार जो विकास के सभी कार्यक्रमों को कमजोर करता है और सार्वजनिक संपदा को ग़ैर क़ानूनी क्षेत्रों में प्रवाहित करता है। इन मुद्दों से निपटने के लिए हाल ही में दो संयुक्त राष्ट्र कन्वेंशन बनाए गए हैं। इन ख़तरों के बारे में जनता और प्राधिकारियों को शिक्षित करने हेतु नीतियाँ बनाने की आवश्यकता है और इन पर विजय पाने के लिए कार्यक्रम बनाने की आवश्यकता है। वास्तव में, अधिकारों का ज्ञान मात्र ही एकमात्र लक्ष्य नहीं है।

मानव अधिकारों के दक्षिण अफ्रीकी विशेषज्ञ पार्लेवलिट कहते हैं "आप मानव अधिकार सिद्धान्त मात्र को रेखांकित कर यह आशा नहीं कर सकते कि लोग उन्हें अपनाएंगे। इन सिद्धान्तों को स्थानीय संस्कृति से जोड़ना होगा और तभी ये भिन्न-भिन्न हितों वाले भिन्न-भिन्न पृष्ठभूमि के लोगों में अधिक सहनशीलता, समानता और एकता ला पाएंगे। मानव अधिकार और विवादों का समाधान परस्पर जुड़े हुए हैं। अल्पावधि में, हिंसक और विनाशकारी विवादों से मानव अधिकारों का उल्लंघन हो सकता है। दीर्घावधि में, मानव अधिकारों की लगातार मनाही विवादों को जन्म दे सकती है। यह सीधा संबंध है।" इसी संदर्भ में, हमें आतंकवाद-बाह्य या आंतरिक, संबंधित अपनी नीतियों का पुनः अवलोकन किए जाने की आवश्यकता है। आतंकवाद का ध्येय सभ्यता का विनाश करना, क़ानून के नियम तोड़ना, अराजकता पैदा करना, हिंसा और अव्यवस्था फैलाना है। इस पर विजय पानी ही होगी। लेकिन कोई भी व्यक्ति आतंकवाद से निपटने के लिए क़ानून के नियम नहीं तोड़ सकता और न ही सभ्य व्यवहार के मानदण्डों की अवहेलना कर सकता है। सभ्य विश्व के समक्ष सबसे प्रमुख चुनौती आतंकवाद को उखाड़ फेंकना है और वह भी आतंकवाद से मुकाबला करने की बलि-वेदी पर बड़ी कठिनाई से प्राप्त नागरिक और राजनैतिक स्वतन्त्रता की बलि चढ़ाए बिना और निर्दोष पुरूषों, महिलाओं और बच्चों को उसका शिकार बनाए बिना। दीर्घावधि में मानव अधिकार शिक्षा के द्वारा असमानता

निवारण पर आधारित एक आतंकवाद निवारण कार्यक्रम तैयार करना होगा, ताकि हिंसक व्यवहार को रोका जा सके। इन दृष्टिकोणों और मूल्यों को, सभी स्तरों पर शिक्षा देकर तथा वास्तविक जीवन की स्थितियों में इस शिक्षा के प्रयोग के लिए सम्बद्ध कार्यक्रमों द्वारा सृजित करना पड़ेगा। यह एक कठिन यात्रा है जिसमें सम्पूर्ण सभ्य संसार के सतत् प्रयास, निगरानी, संसाधन तथा दक्षता की आवश्यकता है।

मानवाधिकार और पुलिस के कामकाज

न्यायमूर्ति श्री वाई. भास्कर राव

भारत एक लोकतांत्रिक गणराज्य है। भारत के संविधान की प्रस्तावना में ऐसे परिकल्पित लोकतांत्रिक गणराज्य की परिकल्पना की गई है जो न केवल राजनैतिक रूप से लोकतांत्रिक है बल्कि सामाजिक दृष्टि से भी लोकतांत्रिक है। दूसरे शब्दों में, भारतीय संविधान में न केवल लोकतांत्रिक समाज की ही परिकल्पना की गई है जो न्याय, स्वतंत्रता और भ्रातृत्व की भावना से ओत-प्रोत हो बल्कि हमारा संविधान सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय, विचार और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, स्तर और अवसर की समानता भी सुनिश्चित करता है।

सार्वभौम स्वतंत्र भारत की शक्तियाँ और प्राधिकरण जो इसके सभी भागों का संघटक और अंग हैं, भारत की प्रजा से प्राप्त होती हैं। जब तक समाज के सभी सदस्यों की प्रतिष्ठा क़ायम नहीं होती तब तक भ्रातृत्व भाव भी स्थापित नहीं हो सकता। इसीलिए संविधान की प्रस्तावना में कहा गया है कि भारत राज्य सभी व्यक्तियों की प्रतिष्ठा सुनिश्चित करेगा। इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए संविधान में प्रत्येक व्यक्ति को समान मौलिक अधिकारों की गारंटी दी गई है ताकि इन मौलिक अधिकारों का हनन होने पर वह न्यायालय का द्वार खटखटा सके। इस बात को देखते हुए कि व्यक्ति की प्रतिष्ठा को बनाए रखने हेतु ये न्यायकारी अधिकारी पर्याप्त नहीं हैं, यदि वह अभावों और कष्टों से परे नहीं है, संविधान के भाग-IV में अनेक दिशा-निर्देश शामिल किए गए हैं जिनका अनुपालन करके राष्ट्र को अपने नागरिकों के लिए सामाजिक और आर्थिक नीतियाँ बनाने का निर्देश दिया गया है।

विधि का शासन एक लोकतांत्रिक समाज के लिए आधारशिला है। ....संविधान की सातवीं अनुसूची की सूची-II (राज्य सूची) का मद-I लोक व्यवस्था से संबंधित है और इसमें परिकल्पना की गई है कि पुलिस प्रशासन तथा सार्वजनिक स्वास्थ्य और स्वच्छता राज्य द्वारा अनुरक्षित होनी चाहिए। इस शक्ति के निहित होने से, राज्य, सार्वजनिक शांति और प्रशांति हेतु विधि और व्यवस्था को बनाए रखने हेतु पुलिस अधिकारी तैनात करता है। दंड प्रक्रिया संहिता और अन्य क़ानून पुलिस को अपराधों का अन्वेषण करके आरोप पत्र दाखिल करने, विचारण करने और अपराध नियंत्रण के भाग के रूप में अपराधियों को सिद्धदोष करके विधि और व्यवस्था की समस्या से निपटने के लिए शक्तियाँ प्रदान करते हैं। राज्य संविधान के अंतर्गत पुलिस राज्य नहीं, बल्कि कल्याणकारी राज्य है, इसलिए पुलिस अधिकारियों

की शक्तियाँ संविधान के अनुच्छेद–21 के अनुसरण में विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया के अनुरूप ही हैं।

पुलिस और अर्धसैनिक बल सरकारी अभिकरण हैं जो अपराध–नियंत्रण और विधि व्यवस्था को बनाए रखने के लिए उत्तरदायी हैं। जब तक शांति और सद्भाव न हो, आम लोगों का न तो विकास हो सकता है और न ही समृद्धि। पुलिस की क्रियाओं का सीधा असर मानवाधिकारों पर पड़ता है। पुलिस मानवाधिकारों का सम्मान और संरक्षण कर पाने में सक्षम है, इस बात का निर्णय इस तथ्य से होता है कि क्या आम व्यक्ति अपने अधिकारों, अपने जीवन और अपनी सम्पत्ति को पुलिस तंत्र के संरक्षण में सुरक्षित महसूस करता है। इसके लिए हमें मानवाधिकारों का अर्थ समझना होगा।

'मानव अधिकार' शब्द को संयुक्त राष्ट्र की किसी घोषणा और प्रसंविदा पत्र में विशेष रूप से परिभाषित नहीं किया गया है। मानव अधिकारों को सामान्यतः ऐसे अधिकारों के रूप परिभाषित किया जाता है जो हमारी प्रकृति में जन्मजात हैं और जिनके बिना हम मानव के रूप में जीवन–यापन नहीं कर सकते। मानव के इन स्वाभाविक अधिकारों की मान्यता भी उतनी ही पुरानी है जितनी मानव सभ्यता। मानव अधिकारों की संकल्पना, यूनाइटेड किंगडम में मैग्ना कार्टा (1215 ईसवी), अधिकारों की याचिका (1627 ईसवी) और अधिकारों का विधेयक (1688) में भी उल्लिखित थी। फ्रांसीसी राष्ट्रीय सभा में की गई मानवाधिकारों की घोषणा (1789) ने अमरीकी संविधान निर्माण प्रक्रिया को प्रभावित किया, और 19वीं शताब्दी में ये अधिकार आधुनिक सभ्य राष्ट्रों की सांविधानिक विधि के मूल सिद्धांत बन गए।

मानव अधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा को संयुक्त राष्ट्र की महासभा ने 10 दिसंबर, 1948 को सर्वसम्मति से अपनाया और घोषित किया गया। सार्वभौमिक घोषणा पत्र के उपबंधों को वैधानिक रूप देने हेतु दिनांक 3 जनवरी 1976 को आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अधिकारों संबंधी अंतरराष्ट्रीय अभिसमय लागू हो गया तथा नागरिक और राजनीतिक अधिकारों संबंधी अंतरराष्ट्रीय अभिसमय को 10 अप्रैल, 1979 को अधिमिलन प्रपत्र के साथ मिलाकर दो अंतरराष्ट्रीय अभिसमयों में समाविष्ट कर दिया गया। मानवाधिकारों संबंधी विश्व सम्मेलन द्वारा 25 जून, 1993 को अपनाए गए वियना घोषणा पत्र और कार्रवाई योजना में घोषित किया गया कि मानव–अधिकार और मूलभूत स्वतन्त्रता सभी व्यक्तियों के जन्म–सिद्ध अधिकार हैं। मानवाधिकारों को अब राज्य द्वारा व्यक्ति–विशेष पर प्रयुक्त शक्ति की सीमा के रूप में मान्यता दी जाती है।

संयुक्त राष्ट्र चार्टर का अनुच्छेद–56 सदस्यों को बाध्य करता है कि सार्वभौमिक सम्मान की प्राप्ति और मानवाधिकारों के संरक्षण हेतु अपने संगठन के सहयोग से, संयुक्त रूप से अथवा पृथक् कार्रवाई करें। संयुक्त राष्ट्र का मानवाधिकार आयोग, संयुक्त राष्ट्र के सदस्य–राष्ट्रों की कदाचार से जुड़ी घटनाओं पर ध्यान केन्द्रित करता है।

संविधान व्यक्ति–विशेष की स्वतन्त्रता और समानता, जो मूल अधिकार हैं, की गारण्टी देता है। इस पहलू पर संविधान सभा द्वारा विस्तार से चर्चा करने के बाद इन अधिकारों में मानव अधिकारों के सिद्धान्तों को भी शामिल कर लिया गया। संविधान के मौलिक

अधिकारों तथा राज्य के नीति–निदेशक सिद्धान्तों को संविधान के उस मूल दर्शन के अनुरूप परिकल्पित किया गया जैसा पंडित नेहरू के ऐतिहासिक प्रयोजनात्मक संकल्प में परिकल्पित किया गया था और जिसे 22 जनवरी 1947 को संविधान सभा द्वारा अपनाया गया था। मानव अधिकार, मानव की प्रतिष्ठा और योग्यता में विश्वास पर जोर देते हैं जैसा संयुक्त राष्ट्र के चार्टर से स्पष्ट है। इस चार्टर में कहा गया है कि :–

"संयुक्त राष्ट्र चार्टर इन सिद्धान्तों का पुनः प्रतिज्ञान करता है कि मूलभूत मानव अधिकारों, व्यक्ति की प्रतिष्ठा और योग्यता, पुरूषों और स्त्रियों के समान अधिकारों में उसका विश्वास है।"

घोषणा पत्र, मानवाधिकारों के बारे में अध्ययन करने और सिफ़ारिशें करने, जाति, लिंग, भाषा और धर्म के आधार पर भेदभाव किए बिना सभी के लिए मानवाधिकारों का समान रूप से सम्मान और अभिरक्षण करने, सामाजिक और आर्थिक क्षेत्र में मानवाधिकारों के लिए आयोग गठित करने और ट्रस्टीशिप प्रणाली के मूल प्रयोजन के रूप में सभी के लिए मानवाधिकारों को प्रवर्धित करने का आह्वान करता है।

मानवाधिकारों को, इनके परस्पर क्रम में, तीन भागों में बाँटा जा सकता है अर्थात् जीवन, स्वतन्त्रता, निष्पक्ष विचारण, व्यक्ति विशेष के निजी और पारिवारिक जीवन, घर और पत्राचार, विवाह करने और परिवार बनाने, यातना से निज़ात पाने, अमानवीय व्यवहार अथवा दण्ड, गुलामी और दासता से निज़ात पाने, विचार और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता का अधिकार और सम्पत्ति, स्वतन्त्र चुनाव का अधिकार और अभिभावकों का अपने बच्चों को शिक्षित करने का अधिकार, आदि।

मानवाधिकारों का घोषणा पत्र, 1948 में निहित अधिकांश अधिकारों और भिन्न–भिन्न अभिसमयों को हमारे संविधान में समाविष्ट किया गया। संविधान में निहित मौलिक अधिकारों में समानता का अधिकार, भेदभाव के विरूद्ध अधिकार, लोक सेवाओं में समान अवसर, छूआछूत निषेध, बोलने की स्वतन्त्रता का अधिकार, बिना शस्त्रों के शान्तिपूर्वक इक्कठा होने का अधिकार, परिसंघ बनाने का अधिकार, भारत के सभी भागों में बेरोकटोक घूमने का अधिकार, भारत के किसी भाग में रहने का अधिकार, किसी व्यवसाय अथवा किसी धन्धे, व्यापार अथवा कार्य को करने का अधिकार, जान–माल की रक्षा का अधिकार, बिना–वजह गिरफ़्तारी, बन्दी के विरूद्ध संरक्षण का अधिकार, मानव के देह व्यापार तथा बलात् श्रम पर प्रतिबंध से कारखानों आदि में बच्चों को तैनात करने पर अन्तर–प्रतिबंध, धर्म को अपनाने, व्यवहार में लाने और प्रचार करने की स्वतन्त्रता, शामिल हैं। इसी प्रकार, राज्य के नीति निर्देशक सिद्धान्तों में समान न्याय और निःशुल्क क़ानूनी सहायता सुनिश्चित करना और काम करने हेतु न्यायपूर्ण तथा मानवीय स्थितियाँ मुहैया कराना, कामगारों के लिए जीवनयापन हेतु मज़दूरी की व्यवस्था, बच्चों के लिए निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा का प्रावधान करना, अनुसूचित जातियों और जन जातियों के शैक्षिक और शैक्षणिक हितों का प्रवर्धन करना, पोषण–स्तर, जीवनस्तर बढ़ाना और सार्वजनिक स्वास्थ्य में सुधार करना शामिल हैं। नागरिकों के मौलिक कर्त्तव्यों में पर्यावरण का संरक्षण और वन तथा वन्य जीवन की सुरक्षा तथा अंतरराष्ट्रीय शान्ति और

सुरक्षा को बढ़ावा देना शामिल हैं। इस प्रकार, हमारा संविधान मौलिक अधिकारों और राज्यों के नीति–निदेशक सिद्धान्तों के माध्यम से मानव अधिकारों का संरक्षण करता है।

दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1973 में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का हनन रोकने के लिए प्रक्रियागत अधिकारों जैसे कि गिरफ़्तारी के कारणों को सूचित किए जाने का अधिकार, अनावश्यक प्रतिबन्ध न लगाए जाने का अधिकार (धारा–49), अकारण अथवा अवैध बन्दीकरण के विरूद्ध अधिकार (धारा 56, 57 और 76), यदि गिरफ्तार कर लिया गया हो तो जमानत पर रिहा होने का अधिकार (धारा 436, 43, 50 (2) और 167), जब सम्पत्ति जब्त कर ली गई हो तो रसीद प्राप्त करने का अधिकार (धारा 100 (6) और (7)), बिना न्यायिक समीक्षा के गिरफ्तारी के बाद 24 घन्टों से अधिक समय तक बन्दी न बनाए रखने का अधिकार (धारा 57), व्यक्ति द्वारा अपराधकृत्य को अस्वीकार करने अथवा अन्यों द्वारा उस पर शारीरिक अपराध–कृत्य को स्थापित करने के लिए चिकित्सा–जाँच कराने का अधिकार (धारा–54), निष्पक्ष और तीव्र अन्वेषण का अधिकार (धारा–309) कतिपय मामलों में राज्य के ख़र्चे पर कानूनी सहायता प्राप्त करने का अधिकार (धारा–304), का प्रावधान हैं। भारतीय संविधान के अनुच्छेद 32 और 226 क्रमशः उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालय को व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और स्वतन्त्रताओं के प्रहरी के रूप कार्य करने की शक्ति प्रदान करते हैं। मानव अधिकार आयोग की स्थापना वर्ष 1993 में, भारत में मानवाधिकारों के प्रबोधन और अन्वेषण करने तथा तत्काल उपचारात्मक कार्रवाई करने के लिए की गई थी। संसद द्वारा मानवाधिकार अधिनियम पारित किया गया जिससे प्राधिकारियों द्वारा मानवाधिकारों के उल्लंघन से निपटने के लिए मानव अधिकार न्यायालय गठित किए गए।

दण्ड प्रक्रिया संहिता और अन्य अधिनियमनों द्वारा पुलिस को प्रदत्त शक्तियाँ अपराधों का अन्वेषण, पूछताछ और विचारण करते समय व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के सुरक्षोपाय किए जाने के पर्याप्त उपाय प्रदान करती हैं। पुलिस को, अपराध करने के संदेह पर व्यक्ति को गिरफ्तार करने और अपराध को रोकने और अपराधियों को जेल में बन्द करने की व्यापक शक्तियाँ प्राप्त हैं। अभियुक्त और साक्षियों की जाँच पड़ताल करने और उनके बयानों को दर्ज़ करने, सम्पत्ति को बरामद करने, तलाशी और ज़ब्ती के लिए परिसर में प्रविष्ट होने की शक्ति क़ानून द्वारा निर्धारित प्रक्रिया के अनुसार होगी। जब भी कोई उल्लंघन होता है अर्थात् जब भी किसी व्यक्ति को बिना किसी संदेह अथवा आरोप के गिरफ्तार किया गया हो, जेल में डाला गया हो अथवा यातना दी गई हो अथवा क़ानून द्वारा निर्धारित प्रक्रिया अपनाए बिना सम्पत्ति ज़ब्त की गई हो, उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों ने, समय–समय पर, समाज में अपराधों से निपटते समय प्राधिकारियों द्वारा अपनाए जाने वाले सिद्धान्त निर्धारित किए हैं।

भारत की न्यायपालिका ने मानव अधिकारों के ध्येय को अत्यधिक सुदृढ़ किया है और विभिन्न तरीकों से मानव अधिकारों के उल्लंघन की सशस्त्र धमकियों का प्रतिरोध किया है, उदाहरण के लिए :

(क) व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का क्षेत्राधिकार विवेचना की प्रक्रिया से बढ़ा है। (1)

(ख) क़ैदियों को एकान्त कारावास और लोहे के सलाखों से छुटकारा दिलाया गया (सह–क़ैदियों के साथ मिलने–जुलने और बातचीत करने के अधिकार को मानव अधिकारों का हिस्सा माना गया)। (2)

(ग) संदेह के आधार पर गिरफ़्तार किए गए गरीब व्यक्तियों को आतंकित किए जाने और अनैच्छुक स्व–अभिशंसन में यातना दिए जाने से बचाया गया। (3)

(घ) सिद्धदोषी को कानूनी सहायता लेने के अधिकार सहित अपील दायर करने का मौलिक अधिकार । (4)

(ङ) कारावास, क़ैदी को मौलिक अधिकारों से वंचित नहीं करता। (5)

(च) सिद्धदोष व्यक्ति को अमानव नहीं बनाता । (6)

(छ) विचारणाधीन क़ैदियों को पुलिस की निर्दयता और अशिष्टता से बचाया गया। (7)

(ज) जमानत की अवधारणा को, ज़रूरतमंद और गरीब व्यक्तियों के लिए और भी संवेदी बनाने के लिए उदार बनाया गया। (8)

(झ) मतदाताओं द्वारा चुनावों का बहिष्कार किए जाने के नक्सलवादियों के अधिकार को बरक़रार रखा गया। (9)

(ट) व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के अविभाज्य भाग के रूप में तीव्र–विचारण का अधिकार। (10)

(ठ) विरले मामलों में ही मृत्यु दण्ड का प्रयोग। (11)

(ड) छोटे कामगारों के समान कार्य के लिए समान वेतन के दावे। (12)

(ढ) राज्य सेवा और अन्य रोजगारों में लिंग पर आधारित भेदभाव निषेध किया गया। (13)

(त) नागरिक–निकायों से नागरिकों के नागरिक सुविधाओं और सेवाओं के दावों का संरक्षण किया गया। (14)

1. ए आई आर 1978, एस.सी. 597	2. ए आई आर 1978, एस. सी.1675
3. ए आई आर 1978, एस.सी. 1675	4. ए आई आर 1978, एस.सी. 1548
5. ए आई आर 1978, एस.सी. 15	6. ए आई आर 1978, एस.सी. 1027
7. ए आई आर 1980, एस.सी. 1535	8. ए आई आर 1978, एस.सी. 1594
9. 1978 क्रिमिनल एल. जे. 701	10. ए आई आर 1979 एस.सी. 1360
11. ए आई आर 1979 एस.सी. 267	12. ए आई आर 1979 एस.सी. 879
13. ए आई आर 1979 एस.सी. 1868	14. ए आई आर 1979 एस.सी. 1622

भारत की न्यायपालिका ने हाल के वर्षों में मानव अधिकारों को लागू करने के लिए अधिकारिता के सिद्धांत में छूट देने और जन–हित अभियोजन जैसे नए तरीक़े अपनाए हैं।

भारत में न्यायालयों ने स्वतन्त्रता प्राप्ति के काफ़ी समय बाद सार्वभौम सत्ता के कामकाज के सिद्धांत को प्राथमिकता दी और पुलिस की ज्यादतियों के लिए राज्य के विरूद्ध बहुत कम राहत प्रदान की। मेनका गांधी के मामले में (1 सुपरा), उच्चतम न्यायालय ने कहा कि संविधान के अनुच्छेद–21 के अंतर्गत आश्वस्त व्यक्ति के जीवन और स्वतन्त्रता को प्रभावित करने वाली राज्य की कोई कार्रवाई ठीक, न्यायसंगत और उचित होनी चाहिए, न कि निरंकुश,

काल्पनिक और उत्पीड़क।

उच्चतम न्यायालय ने हाल ही में डी के बसु बनाम पश्चिम बंगाल राज्य (15) मामले में गिरफ़्तारी अथवा बन्दीकरण के सभी मामलों में पुलिस द्वारा अपनाए जाने वाले दिशा–निर्देश निर्धारित किए हैं। पुलिस हिरासत में अभिरक्षीय हिंसा और मृत्यु के बारे की गई शिकायतों के मामले में उच्चतम न्यायालय ने टिप्पणी की कि :

"हिरासत में यातना और मृत्यु सहित अभिरक्षीय हिंसा, क़ानून के नियम पर एक प्रहार है, जो मांग करता है कि कार्यपालिका की शक्तियाँ न केवल क़ानून से मिलनी चाहिए बल्कि यह क़ानून द्वारा सम्मत भी होनी चाहिए। अभिरक्षीय हिंसा मानवीय प्रतिष्ठा का खुला उल्लंघन है और ऐसा पतन है जो व्यक्ति के व्यक्तित्व को बहुत हद तक नष्ट कर देता है। अभिरक्षीय मौत क़ानून के शासन द्वारा शासित सभ्य समाज में एक जघन्य अपराध है"।

सर्वोच्च न्यायालय ने माना है कि अभिरक्षीय हिंसा के शिकार व्यक्ति और यदि उसकी मृत्यु अभिरक्षा में हुई हो तो उसके परिवार को पुलिस कार्मिकों के अत्याचारी कृत्य के कारण हुई क्षति के लिए निजी क़ानून के अन्तर्गत उपलब्ध उपचार के अतिरिक्त सार्वजनिक क़ानून के अन्तर्गत क्षतिपूर्ति का अधिकार है।

यह कहना आवश्यक नहीं है कि उच्चतम न्यायालय द्वारा घोषित क़ानून सभी न्यायालयों के लिए बाध्य हैं। डी. के. बसु मामले (15 सुपरा) में उच्चतम न्यायालय ने विशेष रूप से टिप्पणी की है कि उसमें उल्लिखित निर्देश संविधान के अनुच्छेद 21 और 22 (1) पर आधारित हैं और इनका कड़ाई से पालन होना चाहिए और ये राजस्व आसूचना निदेशालय, प्रवर्तन निदेशालय, तट रक्षक, केन्द्रीय रिज़र्व पुलिस बल, सीमा सुरक्षा बल, केन्द्रीय औद्योगिक सुरक्षा बल, राज्य सशस्त्र पुलिस, आसूचना ब्यूरो, केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो, अपराध अन्वेषण विभाग, यातायात पुलिस, माऊन्टेड पुलिस और भारत–तिब्बत सीमा पुलिस जैसे अन्य सरकारी अभिकरणों पर समान रूप से लागू होते हैं और इनका उल्लंघन न्यायालय की अवहेलना है।

एक अन्य पहलू आतंकवाद से निपटने में पुलिस अधिकारी की शक्तियाँ हैं। हाल के वर्षों में यह सामान्य रूप से देखने में आया है कि लोक व्यवस्था बनाए रखने के लिए आतंकवाद के विरूद्ध लड़ाई में अनेक लोग मुठभेड़ों के नाम पर मारे जा रहे हैं। हाल ही में दिल्ली में घटी एक घटना में पुलिस ने दो व्यापारियों को मार डाला जो किसी मामले से जुड़े नहीं थे। यह घटना पुलिस बल में पर्दे के पीछे हो रही घटनाओं पर विषादमय प्रकाश डालती है।

उच्चतम न्यायालय ने पीपुल्स यूनियन फॉर सिविल लिबर्टीज़ बनाम भारत संघ (16) मामले में मणिपुर राज्य में मुठभेड़ में हुई मौतों के संदर्भ में टिप्पणी की है कि यह बताना न्यायालय का काम नहीं है कि आतंकवादियों से कैसे लड़ा जाए और यदि पुलिस को सूचना मिले कि आतंकवादी किसी स्थान विशेष पर एकत्रित हो रहे हैं और यदि उन्होंने उन्हें चकमा देकर गिरफ्तार कर लिया हो तो उनसे क़ानून के अनुसार ही निपटा जाना चाहिए।

इस प्रकार, पुलिस अपराध को नियंत्रण करते समय अपराध–कृत्य रोकते समय और अपराधियों का विचारण करते समय मौलिक अधिकारों अर्थात नागरिकों के मूलभूत

मानव अधिकारों के प्रति सचेत रहेगी। जब भी मौलिक अधिकारों का हनन होता है, पुलिस कार्मिक इसके लिए उत्तरदायी होते हैं। इसलिए, पुलिस अधिकारियों का कर्त्तव्य है कि वे नागरिकों के मूलभूत मानव अधिकारों का ध्यान रखें। जब तक उन्हें इन अधिकारों की पर्याप्त जानकारी नहीं होगी, तब तक वे उन्हें कार्यान्वित नहीं कर पाएंगे। कांस्टेबल से लेकर सबसे बड़े पुलिस अधिकारी के प्रशिक्षण के लिए निर्धारित पाठ्यक्रम में मानव अधिकारों से जुड़े सांविधिक उपबन्ध शामिल होने चाहिए। यहाँ यह कहना भी आवश्यक है कि संविधान का अनुच्छेद–21 इस बात की गारण्टी देता है कि किसी को क़ानून द्वारा निर्धारित प्रक्रिया को छोड़कर उसके जीवन और स्वतन्त्रता के अधिकार से वंचित नहीं किया जाएगा। इसका तात्पर्य यह है कि अपराधों से निपटने के लिए पुलिस अधिकारियों को शक्ति प्रदान करने वाले दण्ड प्रकिया निष्पक्ष और उचित होनी चाहिए और क़ानून के अनुसार कड़ाई से उसका पालन किया जाना चाहिए। इसलिए, नागरिकों के मानव अधिकारों और उनकी शक्तियों के बारे में पुलिस कार्मिकों को शिक्षित करना आवश्यक है।

भारत के कारागारों में क़ैदियों की स्थिति, उनके अधिकार और अपेक्षित सुधारात्मक उपाय

डॉ. पी. के. अग्रवाल

कारागार किसी भी देश में समाज का सबसे अधिक अवहेलित स्थान माना जाता है। कारागार का अर्थ है व्यक्ति की स्वतंत्रता का अवरोध। उसे वे सुविधाएँ उपलब्ध न हों जो सामान्य रूप से स्वतंत्र व्यक्ति को उपलब्ध होती हैं, क्योंकि वह दंड भोगने के लिए ही कारागार में दाख़िल हुआ है। किसी भी अपराधी या बंदी को इसलिए कारागार में रखा जाता है, क्योंकि वह समाज के लिए ख़तरनाक है तथा समाज की व्यवस्था तथा शांति के लिए यह आवश्यक है कि वह समाज से दूर रहे, साथ-साथ अन्य नागरिकों के लिए भी उदाहरण स्थापित हो ताकि वे भविष्य में भी अपराधों की ओर प्रवृत्त न हों तथा समाज की शांति-व्यवस्था को भंग न करें। अतः कारागार वे आवास हैं जिनमें वे अपराधी रखे जाते हैं जिन्होंने या तो समाज की शांति-व्यवस्था को क्षति पहुँचाई है या क्षति पहुँचाने का प्रयत्न किया है। उनको उपयुक्त न्यायालय द्वारा दंड प्राप्त होने से समाज में उनके कृत्यों के प्रति प्रतिकार भावना का शमन होता है। अतः ऐसे लोगों को उपयुक्त विधि के अंतर्गत अदालतें अपराधी घोषित करती हैं तथा उसके आदेशानुसार ही उन्हें जेल या कारागार की सलाख़ों के पीछे रखा जाता है। भारत एक विकासशील राष्ट्र है तथा यहाँ का जीवन-स्तर अनेक देशों की अपेक्षा निम्न स्तर का है। स्वभावतः भारत में कारागारों की स्थिति भी बहुत अच्छी नहीं है क्योंकि कारागार भी उसी समाज का अंग है तथा दंड-विधि-दर्शन के अनुसार कारागार की स्थिति समाज की औसतन स्थिति से बेहतर होना श्रेयस्कर नहीं है। जहाँ आस्ट्रेलिया तथा संयुक्त राज्य अमेरिका की जेलों में प्रत्येक क़ैदी के लिए पृथक् कमरा होता है तथा उसे भारत के तीन सितारे होटल की भाँति सुख-सुविधाएँ प्रदान की जाती हैं, वहीं भारत में ऐसी सुविधाओं की आशा करना असंभव ही नहीं, एक दिवास्वप्न है जहाँ देश के अधिकांश लोग ग़रीबी रेखा के नीचे जीवन-यापन कर रही है।

आजकल कारागारों के स्वरूप संबंधी हमारी अवधारणा में आमूल परिवर्तन हुआ है। आधुनिक युग में बंदीगृह को हम दंड-स्थल न मानकर सुधारगृह मानते हैं, क्योंकि बंदी अथवा क़ैदी भी समाज के अंग हैं तथा उन्हें वे सभी मौलिक तथा नागरिक अधिकार प्राप्त हैं जो

समाज के अन्य लोगों को हैं। देश की स्वतंत्रता प्राप्ति के पूर्व प्रायः सभी बड़े–बड़े राजनीतिक नेता एवं सामाजिक तथा धार्मिक सुधारक भी ब्रिटिश शासन के दौरान विभिन्न जेलों में वर्षों बंद रहे। जहाँ महात्मा गांधी ने '*हरिजन*' पत्र जेल से निकाला वहाँ तिलक के 'कर्म–योग' का संदेश जेल के दरवाजे से निकला। जहाँ पं0 जवाहरलाल नहेरू ने 'भारत की खोज' जेल में की वहाँ ऋषि अरविन्द के प्रेरणात्मक वचनों की गूँज जेल की चारदीवारी में हुई। काजी नज़रुल इस्लाम का राष्ट्रीय शंखनाद' जेल से ही आरंभ हुआ। सन् 1975–77 के आपातकाल में कई दिग्गज राजनीतिक नेताओं ने जेल की हवा खाई। अतः हमारे देश में कारागारों के महत्व को समझने के लिए हमें दक्षिण अफ्रीका के नेल्सन मंडेला अथवा संयुक्त राज्य अमेरिका के रंगभेद विरोधी नेता मार्टिन लूथर किंग के उदाहरणों की ओर नहीं देखना पडेगा।

क़ैदियों की स्थिति

भारत में क़ैदियों को प्रायः इन समस्याओं का सामना करना पड़ता हैं :

- उचित निवास स्थान का अभाव,
- वार्डों में निर्धारित संख्या से अधिक क़ैदी,
- क़ैदियों का दिशाहीन वर्गीकरण,
- अपर्याप्त जलापूर्ति, शौचालयों की कमी,
- मनोरंजन के साधनों का अभाव,
- भोजन की निम्न गुणवत्ता तथा भोजन व्यवस्था में अन्य गंभीर कमियां,
- स्वास्थ्य सेवाओं में लापरवाही,
- समुचित शिक्षा तथा व्यावसायिक प्रशिक्षण का अभाव,
- बंदीगृह में असमान व्यवहार अर्थात् एक ही परिस्थिति में कुछ कैदियों के साथ पक्षपात तथा कुछ की उपेक्षा, पुराने बंदियों द्वारा जेल– प्रशासन का रख–रखाव तथा आचरण में उच्छृंखलता
- बंदीगृह में व्यापक रूप से व्याप्त भ्रष्टाचार तथा कुशासन,

राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग की वार्षिक रिपोर्ट 1999–2000 ने भारतीय जेलों की दशा का चित्रण कुछ इस प्रकार प्रस्तुत किया है: "वहाँ जेल में 507 बंदी रखने की प्राधिकृत क्षमता की तुलना में 780 बंदी रखे गए थे जिनमें से 90 प्रतिशत तो विचाराधीन (अण्डर ट्रायल) बंदी थे। शौचालयों की संख्या बहुत कम थी और उनकी दशा शोचनीय थी। जेल के अहाते में कूड़े के ढेर थे और रुका हुआ पानी भी था। रसोईघर और भोजन पात्र गंदे पड़े थे। जो भोजन दिया जाता था, वह भी स्वच्छ नहीं था। बंदियों की शिकायत थी कि जेल के डॉक्टरों की उनके प्रति कोई सहानुभूति नहीं थी। उनके लिए वे दवाइयाँ भी नहीं लिखकर देते थे जो जेल के अस्पताल से मिल सकती थी। एक्स–रे मशीनें काम नहीं कर रही थीं। अस्वास्थ्यकर दशाओं के होते और स्वास्थ्य सुविधा की कमी के कारण बंदियों को खुजली और अन्य चर्म रोग हो रहे थे। शिलांग जेल में पीने के पानी की और नहाने–धोने के पानी की बहुत कमी थी। दवाइयों की सप्लाई अपर्याप्त थी तथा शिलांग

के ठंडे मौसम में प्रत्येक संवासी (क़ैदी) को जो दो कंबल दिये गये थे, उनकी दशा ख़राब थी।

अनेक सेन्ट्रल जेलों में अत्याधिक भीड़–भाड़ थी और स्टॉफ़ की बहुत–कमी थी। क़ैदियों को परेशान करने, उत्पीड़न करने, ख़राब राशन मिलने, पुस्तकों–पत्रिकाओं के न मिलने और शिकायत सुनने के लिए कोई व्यवस्था न होने के आरोप लगाए गए थे।

सबसे बड़ी चौंकाने वाली बात यह थी कि जेल में एक 10–11 वर्ष की लड़की को 'विचाराधीन क़ैदी' के रूप में रखा हुआ था। किशोर न्याय अधिनियम के उपबंधों के अनुसार किसी बच्चे/बच्ची को नियमित जेल में नहीं रखा जा सकता है। जेल में ऐसे–ऐसे विचाराधीन क़ैदी थे जो काफ़ी लंबे समय–1 से 9 वर्ष तक की अवधि से वहाँ पड़े हुए थे। कुछ बंदियों को तो 1 से 3 वर्ष की अवधि के दौरान एक बार भी न्यायालय में पेश नहीं किया गया था। उसके लिए जेल के अधिकारियों का कहना था कि उन्हें 'पुलिस' एस्कार्ट की सुविधा की कमी के कारण पेश नहीं किया जा रहा था।"

क़ैदियों के रहने के लिए जो वार्ड हैं, उनकी ठीक तरह से मरम्मत नहीं होती है, क्योंकि राज्य सरकारों के पास धन का अभाव है। जेलों की देखभाल करने वाला सार्वजनिक निर्माण विभाग परंपरागत रूप से ठेकेदारों के चंगुल में फँसा है। क़ैदियों की संख्या बढ़ने पर भी धनाभाव के कारण आवश्यक नए वार्डों का निर्माण कार्य नहीं हो पा रहा है। विचाराधीन छोटे–मोटे अपराधों मे लिप्त क़ैदियों को गंभीर अपराधियों के साथ रख दिया जाता है जिससे वे भी अपराधों में और परिपक्व होते हैं। कभी–कभी वे जेल में ही माफ़िया एवं अन्य अपराधियों के दलों में सम्मिलित हो जाते हैं। क़ैदियों के मनोरंजन के साधनों का अभाव है जिस कारण वे हर समय अपराधों के विषय में सोचते हैं, बातें करते हैं तथा इस प्रकार वे जेलों में भी अपराधी मनोवृत्ति से दूर नहीं रह पाते। उनको कारागारों में शिक्षा तथा व्यावसायिक पेशों में सम्यक प्रशिक्षण नहीं दिया जाता है जिस कारण जेल से छूटने के बाद भी उन्हें जीविकोपार्जन के लिए फिर से अपराध जगत का सहारा लेना पड़ता है। सबसे बड़ी समस्या यह है कि जेलों में बृहत् पैमाने पर भ्रष्टाचार तथा कुशासन व्याप्त है। पुराने सज़ा प्राप्त क़ैदी जेल के प्रशासन को सँभालते हैं क्योंकि जेल प्रशासन के पास उचित संख्या में अधिकारी, कर्मचारी तथा सिपाही नहीं होते हैं। वे जेल के अंदर वैसा ही प्रशासन चलाते हैं जैसा वे जेल में प्रवेश करने के पहले करते थे। वे जेल में माफ़िया सरदार, ज़मींदार तथा मठाधीशों की भाँति रहते हैं। कहीं–कहीं जेल के भीतर से ही अपने गिरोहों का संचालन करते हैं एवं जेल के भीतर अपनी समांतर सरकार चलाते हैं। सबसे अधिक दुःख की यह बात है कि जेल में व्याप्त भ्रष्टाचार के कारण कुछ धनी तथा प्रभावशाली क़ैदियों को अधिक सुविधाएँ दी जाती हैं जबकि छोटे–छोटे अपराधों में लिप्त क़ैदियों को अधिक कष्टमय जीवन व्यतीत करना पड़ता है। क़ैदी प्रायः समाज में व्याप्त विषमता के शिकार होकर ही अपराध का रास्ता अपनाते हैं तथा इस सामाजिक विषमता तथा विभेद के प्रति उनके अंदर गहरा क्षोभ व्याप्त रहता है। यदि जेल में भी वे ऐसा देखेंगे, तो स्वभावतः सुधरने की अपेक्षा उनकी प्रतिकार भावना और तीव्र होगी।

क़ैदियों के अधिकार:–

सन् 1955 में जेनेवा में शुरू होकर संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा द्वारा 23 मार्च, 1976 को पारित, नागरिक तथा राजनीतिक अधिकार संबंधी अंतरराष्ट्रीय प्रसंविदा (Covenant) के अनुच्छेद 9 के अनुसार क़ैदियों के कुछ निम्न अधिकार हैं :

"जिस किसी को गिरफ़्तार किया जाएगा, उसे गिरफ़्तारी के कारण बताएँ जाएंगे और उस पर लगाए गए आरोप की जानकारी उसे अविलंब दी जाएगी।

यह सिद्धांत डी.के. बसु मामले में भी भारत के सर्वोच्च न्यायालय ने प्रतिस्थापित किया।

अपनी स्वतंत्रता से वंचित सभी व्यक्तियों के साथ व्यक्ति की सहज गरिमा का ध्यान रखते हुए, मानवीयतापूर्ण ढंग से और सम्मानपूर्वक व्यवहार किया जायेगा।

असाधारण परिस्थितियों को छोड़कर बाक़ी स्थितियों में आरोपी लोगों को दोषसिद्ध व्यक्तियों से अलग रखा जाएगा और उनके साथ पृथक् ढंग से उस तरह का व्यवहार किया जाएगा जो उन लोगों के उपयुक्त हो जिनका दोष अभी सिद्ध नहीं हुआ है।"

कुछ अन्य मान्यता प्राप्त अंतरराष्ट्रीय प्रसंविदाओं के अनुसार बाल आरोपियों को वयस्कों से अलग रखा जाएगा और उन्हें यथासंभव शीघ्र से शीघ्र न्यायिक निर्णय के लिए पेश किया जाएगा।

अपराधी सुधार–प्रणाली के अंतर्गत क़ैदियों से ऐसा व्यवहार किया जाएगा, जिसका उद्देश्य उनका सुधार और सामाजिक पुनर्वास होगा। बाल अपराधियों के साथ ऐसा व्यवहार किया जाएगा जो उनकी उम्र और क़ानूनी वर्गीकरण के उपयुक्त हो।

क़ैदियों के लिए जहाँ तक हो सके हथकड़ी, लोहे की चेन तथा सीधी (स्ट्रेट) जैकेट का उपयोग नहीं किया जाएगा। किसी भी क़ैदी को एक ही अपराध के लिए दुबारा दंडित नहीं किया जाएगा।

उसको अपना मुक़दमा लड़ने का तथा अपना पक्ष रखने की सुविधा प्रदान की जाएगी। उसके पीछे उसके विरुद्ध निर्णय नहीं होगा। उसको मुक़दमे में सुनवाई का उपयुक्त अधिकार उपलब्ध होगा।

उसको वकील या अनुवादक द्वारा न्यायालय में अथवा अन्य स्थान पर अपना पक्ष रखने की स्वतंत्रता प्राप्त होगी।

डॉक्टरों की सलाह के बिना उसका राशन या भोजन कम नहीं किया जा सकता है तथा उसे एकांत में क़ैद करके नहीं रखा जा सकता है।

प्रत्येक क़ैदी को अपने अधिकार तथा नियमावली संबंधी सूचना प्राप्त करने की सुविधा होनी चाहिए।

किसी को भी 'बेगार' श्रम करने को बाध्य नहीं किया जा सकता है तथा श्रम के बदले उसे निर्धारित निम्नतम मज़दूरी प्राप्त करने का अधिकार है। पर ये सभी अधिकार जेल की सुरक्षा के भीतर ही न्यायालय के किसी भी निर्णय या आदेश के अनुसार होंगे।

ये सामान्य अधिकार जहाँ संयुक्त राष्ट्र महासभा द्वारा दिसंबर, 1990 में पारित ग्यारह सूत्री बिन्दुओं पर आधारित हैं वहीं ये भारत के संविधान के अनुच्छेद 14, 15, 20, 21, 22 तथा 32 में भी उल्लखित हैं।

सन् 1993 में मानव अधिकारों के संरक्षण के लिए राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग, राज्यों में राज्य मानव अधिकार आयोगों और मानव अधिकार न्यायालयों के गठन इत्यादि हेतु संसद द्वारा मानव अधिकार संरक्षण अधिनियम, 1993 बनाया गया। इसके अनुसार मानवाधिकार आयोग अपनी पहल पर या प्रभावित व्यक्ति द्वारा अथवा उसकी ओर से अन्य व्यक्तियों द्वारा दी गई याचिका प्राप्त होने पर जाँच कराएगा।

भारत में जेलों के प्रशासन के संचालन के लिए मुख्यतः बंदी अधिनियम, 1900 है जिसके द्वारा क़ैदियों के अधिकार संचालित होते हैं। यह अधिनियम उन राज्यों या केन्द्रशासित प्रदेशों में प्रभावी रहेगा जहाँ अन्य कोई अधिनियम लागू नहीं होता है। इस अधिनियम में क़ैदियों को विशेष अधिकार नहीं थे क्योंकि जेलों से संबंधित अधिकांश अधिनियम जैसे कारागार अधिनियम, 1894 ब्रिटिश काल के अधिनियम हैं जिनका उद्देश्य था भारत पर ब्रिटिश राज्य की पकड़ को मजबूत करना। फिर भी ये कारागार उस प्रकार के यातना–शिविर नहीं थे जो हिटलर की जर्मनी या स्टालिन के सोवियत संघ में थे। स्वतंत्रयोत्तर किशोर अधिनियम, 1986 तथा मानसिक स्वास्थ्य अधिनियम, 1987 लागू हुए। किशोर अधिनियम में उपेक्षित किशोरों के पुनर्वास की व्यवस्था है तथा मानसिक स्वास्थ्य अधिनियम में मानसिक रूप से पीड़ित व्यक्तियों के उचित देखभाल की।

भारत के उच्चतम न्यायालय ने भी विभिन्न मामलों में क़ैदियों के अधिकार तथा कर्त्तव्य निर्धारित किए हैं। इनमें से प्रमुख निर्णय निम्न मामलों में हुए हैं।

मेनका गांधी[4] मुक़दमा, हुसैनारा खातून मामला[5], फ्रांसिस कोरेली मामला[6], 'शीला बर्से मामला[7], सुनील बत्रा मामला[8], सिटीजन फॉर डेमोक्रेसी मामला[9], तथा डी.के. बसु मुक़दमा[10]। मेनका गांधी मामले में क़ैदी को जीने का अधिकार दिया गया, बृहद् रूप में हुसैनारा मामले में विचाराधीन क़ैदियों के शीघ्र मुक़दमे निपटान की बात कही गई। कोरेली के मामले में गिरफ़्तार व्यक्ति के अधिकारों को सूचीबद्ध किया गया, शीला बर्से मामले में यह कहा गया कि गैर अपराधी पागलों को जेल में नहीं रखा जा सकता है, सिटीजन फॉर डेमाक्रेसी मामले में हथकड़ी लगाने की पाबंदी लगाई गई तथा डी.के. बसु मामले में गिरफ़्तार व्यक्ति को अपनी गिरफ़्तारी के कारण जानने का तथा स्वयं को वकील द्वारा रक्षा करने का अधिकार दिया गया।

कारागारों में क़ैदियों के अधिकारों को निम्न श्रेणियों में वर्गीकृत किया जा सकता है:

1. मानवीय गरिमा एवं उत्तम व्यवहार का अधिकार,
2. उपयुक्त रीति से जेल में प्रवेश का अधिकार,
3. जेल–जीवन का सदुपयोग,

4. उत्तम स्वास्थ्य का अधिकार,
5. ग़ैर–सजा प्राप्त बंदियों अर्थात् विचाराधीन क़ैदियों के अधिकार,
6. विशेष वर्ग के बंदी (महिलाएँ तथा बच्चे),
7. बंदियों का बाहरी दुनिया से संपर्क,
8. जेल में हिरासतीय अपराधों से सुरक्षा तथा उनके विरुद्ध समुचित कार्यवाही की क्रियाविधि,
9. शिकायत एवं निरीक्षण की उचित प्रक्रिया,
10. जेलकर्मियों द्वारा उचित प्रशासन,
11. जेलकर्मियों के अधिकार,
12. जेल की सुरक्षा बनाए रखना।

उपर्युक्त अधिकारों को संक्षिप्त रूप से इस प्रकार स्थिर किया जा सकता है।

क़ैदी के साथ कारागार में प्रवेश के समय सभ्य व्यवहार होना चाहिए। उसके संबंधियों तथा क़ानूनी प्रतिनिधियों आदि का पता इत्यादि नोट होना चाहिए ताकि आवश्यकता पड़ने पर वह उनसे तुरंत सम्पर्क स्थापित कर सके। उसे उसी वार्ड में रखना चाहिए जहाँ समान स्थिति वाले अन्य बंदी हैं। प्रवेश के समय उसका डॉक्टरी परीक्षण होना चाहिए तथा बीमारियों से उसकी सुरक्षा के लिए टीकाकरण सहित अन्य उपाय होने चाहिए। उसके वार्ड में उपयुक्त हवा एवं प्रकाश की व्यवस्था होनी चाहिए तथा उसके रहने के लिए पर्याप्त स्थान तथा टहलने के लिए जेल में खाली स्थान होना चाहिए। उसके उपयोग के लिए दिए गए बिस्तर, कपड़े तथा बर्तन स्वच्छ होने चाहिए। लोहे के बर्तनों के स्थान पर स्टील के बर्तनों में खाना परोसना चाहिए। वार्डों में पर्याप्त संख्या में स्वच्छ शौचालय होना चाहिए उन्हें जेल प्रशासन की ओर से तेल, साबुन तथा समय–समय पर बाल काटने की व्यवस्था होनी चाहिए। उनके लिए खाना स्वस्थ तथा स्वच्छ होना चाहिए जोकि मध्यम श्रेणी का हो। यदि जेल के डॉक्टर ने किसी क़ैदी के लिए विशेष खाना निर्धारित किया है, वह उसे मिलना चाहिए। क़ैदियों को काम करने तथा व्यायाम करने की स्वतंत्रता होनी चाहिए ताकि उनका मानसिक संतुलन ठीक रहे। उन्हें किसी भी अधिकारी के व्यक्तिगत कार्य के लिए नहीं लगाया जाना चाहिए। काम करने के लिए उन्हें निर्धारित वेतन मिलना चाहिए जोकि जमा होकर उनको आवश्यकता पड़ने पर प्राप्त हो सके तथा वह उन्हें छूटने पर संचित रूप से प्राप्त हो सके जिसे बाद में वह उसे अपने पुनर्वास के लिए लगा सकें। क़ैदियों को समुचित रूप से पत्र लिखने, शिक्षा प्राप्त करने, पुस्तक पढ़ने एवं सांस्कृतिक तथा योगासन के कार्यक्रमों में भाग लेने की सुविधा प्राप्त होनी चाहिए। उसे जेल के भीतर अपने धर्म का पालन करने की स्वतंत्रता होनी चाहिए। उन्हें प्रार्थना–पत्र लिखने, क़ानूनी सहायता प्राप्त करने तथा अपने संबंधियों या मित्रों से मिलने की सुविधा प्राप्त होनी चाहिए। क़ैदियों को उन जेलों में रखा जाए जहाँ वे अपने रिश्तेदारों से आसानी से मिल सकें। आवश्यकता पड़े तो उन्हें उन जेलों में स्थानांतरित करना चाहिए, लेकिन जेल के नियम समाज की सुरक्षा के लिए ख़तरनाक क़ैदियों जैसे आतंकवादियों, देशद्रोहियों, आर्थिक अपराधियों, डकैतों, हत्यारों तथा बलात्कारियों के लिए

नहीं हैं। क़ैदियों को कारागार में पंचायत गठन करने की सुविधा प्राप्त होनी चाहिए ताकि वे अपनी समस्याओं का समाधान स्वयं ढूँढ सकें। उन्हें नियमानुसार अवकाश तथा क़ैद में छूट की सुविधा, बिना किसी भेदभाव के उपलब्ध होनी चाहिए। जेल में ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए जिससे बिना अपना नाम प्रकट किए वे जेल–प्रशासन या साथी क़ैदियों के प्रति शिकायत दर्ज करा सके।

महिला क़ैदियों के लिए पृथक् वार्ड होना चाहिए तथा उसमें भी पक्के अपराधियों से विचाराधीन अपराधियों को दूर रखा जाना चाहिए। उनके बच्चों की देखभाल तथा उनके खाने की विशेष सुविधा होनी चाहिए क्योंकि वे क़ैदी नहीं है। उनकी शिक्षा व्यवस्था भी होनी चाहिए। यदि हो सके, तो बच्चों के लिए पृथक् देखभाल–शिविर (क्रेच) होने चाहिए। उनके वार्ड में केवल महिला वार्डरों या सुरक्षा–कर्मियों की तैनाती होनी चाहिए। इसी प्रकार किशोरों तथा मानसिक रोगियों के लिए विशेष व्यवस्था अनिवार्य है।

विचाराधीन क़ैदियों को यह विशेषाधिकार प्राप्त है कि वे अपने स्वयं के खाने, कपड़े इत्यादि का उपयोग कर सकें। उन्हें क़ानूनी सहायता के लिए अपने मित्रों, संबंधियों तथा अधिवक्ताओं से मिलने का अग्राधिकार प्राप्त है।

उच्च–सुरक्षा क़ैदियों को पृथक् सेलों में रखा जाता है तथा उन्हें केवल भोजन बाँटते समय ही बाहर निकाला जाता है। मौत की सज़ा प्राप्त क़ैदियों को कम–से–कम कष्ट देकर मौत के घाट उतारना चाहिए। इसके लिए विषैला इंजेक्शन, इलैक्ट्रिक कुर्सी सहित अनेक उपायों द्वारा मौत की सज़ा दी जा सकती है।

आधुनिक काल में, विशेषतः संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा द्वारा दिसंबर 1992 में प्रस्ताव पारित करने के बाद विश्व भर के सभ्य जनमानस ने हिरासत में किए गए अपराधों को काफ़ी गंभीरता से लिया है क्योंकि सरकारी या व्यक्तिगत अभिरक्षा में व्यक्ति प्रायः असहाय होता है तथा दूसरा व्यक्ति समर्थ होता है। अतः उस स्थिति का ग़लत लाभ उठाते हुए यदि सरकारी या निजी अभिरक्षा में स्थित किसी व्यक्ति के विरुद्ध कोई अपराध करता है, उसके लिए अत्यंत कठोर दंड का प्रावधान है। कारागार सरकारी–अभिरक्षा की एक सरकारी संस्था है।

अपेक्षित सुधारात्मक उपाय

कारागारों में सुधारात्मक उपायों को लागू करने के लिए समय–समय पर प्रयत्न होते रहे हैं। समाज के विभिन्न वर्गों ने अनेक अवसरों पर कारागार के क़ैदियों के साथ सहानुभूति प्रदर्शित की है। देश में आपातकाल के दौरान देश के तत्कालीन तथा भावी नेताओं को जेल की यथास्थिति का व्यावहारिक अनुभव हुआ जिससे जेल–सुधारों के प्रति सभी स्तरों पर अनुकूल अभिमत तैयार हुआ। देश की ही नहीं एशिया की सबसे बड़ी जेल तिहाड़ जेल, दिल्ली में सुधारों की सफलता के बाद क़ैदियों, जनता एवं प्रशासन में यह विश्वास जन्मा है कि कारागारों में विभिन्न सुधारों की आवश्यकता है। दूसरी ओर, संयुक्त राष्ट्र संघ के नेतृत्व में मानव अधिकारों को कार्यान्वित करने के लिए विश्व जनमत खड़ा हुआ

है। एक ओर जहां विश्व के विकसित राष्ट्रों जैसे संयुक्त राज्य अमेरिका तथा अंतरराष्ट्रीय संस्थाओं जैसे विश्व बैंक आदि ने आर्थिक सहायता को मानव अधिकारों के कार्यान्वयन के साथ जोड़ा है, वहाँ दूसरी ओर उच्चतम न्यायालय ने भारत में लिखित अधिनियमों की प्रतीक्षा न करते हुए भारतीय विधि–कोश में मानव अधिकारों के कई सिद्धांतों का प्रणयन किया है। यह आजकल सर्वमान्य तथ्य है कि न्याय या दंड का अर्थ या उद्देश्य प्रतिकारात्मक नहीं है बल्कि रचनात्मक तथा सुधारात्मक ही है। इसी विचारधारा को आगे बढ़ाते हुए पश्चिम बंगाल सहित कुछ लोकप्रिय सरकारों ने "पश्चिम बंगाल संशोधनात्मक सेवा अधिनियम, 1992" जैसे क़ानून लागू किए हैं। पश्चिम बंगाल में तो कारागारों का नाम ही परिवर्तित करके उन्हें 'संशोधनागार' कहा जाता है।

कारागार के क्षेत्र में अपेक्षित सुधारों के लिए यह आवश्यक है कि कारागार के प्रशासन को चुस्त–दुरुस्त किया जाये। वे भ्रष्टाचार, पक्षपात तथा अक्षमता से मुक्त हों। उनके अंदर क़ैदियों के प्रति करुणा तथा सहानुभूति का भाव उत्पन्न हो। इसके लिए उनको निरंतर प्रशिक्षण दिया जाए। जेलों में पर्याप्त संख्या में सुरक्षात्मक कर्मी तैनात हों तथा उन्हें समुचित संसाधन प्राप्त हों ताकि वे स्वयं संतुष्ट होकर क़ैदियों की सेवा करें। असन्तुष्ट कर्मी अपने काम से कभी भी ग्राहक या लाभार्थी को खुश नहीं कर सकता है। कारागार के कर्मियों तथा अधिकारियों क़ी सेवा शर्तों में सुधार हो तथा उन्हें पुलिस के समकक्ष मान्यता प्राप्त हो। आजकल वे सरकार में निम्नतम श्रेणी के कर्मचारियों में अपनी गणना करते हैं। उन्हें आवास की समुचित सुविधा प्राप्त होनी चाहिए क्योंकि जेल की सुरक्षा हेतु उन्हें अपने घर–परिवारों को छोड़कर जेल के पास बैरकों में ही रहना पड़ता है। उनके आवास की दशा शोचनीय है। जेलों में प्रायः कर्मियों के अभाव में उन्हें रात–दिन काम करना पड़ता है जिससे वे समुचित सेवा प्रदान नहीं कर पाते हैं। उन्हें सम्यक अवकाश नहीं मिलता है तथा उनकी शिकायतों का उचित रूप से समाधान नहीं होता है। उत्तम कार्य के लिए वे पुरस्कृत नहीं होते हैं। दूसरी ओर भ्रष्टाचार तथा पक्षपात के कारण उनमें काम करने का अभिप्रेरण कम हो जाता है। उनके लिए मनोरंजन के साधन भी नहीं होते हैं तथा सेवामुक्त होने पर उनके ऊपर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता है। दूसरी ओर वे समाज के विद्रोही तथा विकृत अंश के सदैव सम्पर्क में होते हैं । अतः शनैः शनैः गुणों के आदान–प्रदान से उनके आचरण तथा व्यवहार में अशोभनीय विकृतियां उत्पन्न हो जाती हैं।

कारागार के प्रशासन को उन्नत करने के लिए कारागार के प्रशासन का विकेन्द्रीकरण करना होगा। उसमें आधुनिक प्रबंधन तकनीकों का समावेश करना होगा । कारागार का प्रबंधन या प्रशासन बेईमान ठेकेदारों तथा मध्यस्थों पर कम–से–कम निर्भर हो। कारागारों में नियमित रूप से निरीक्षक (विज़िटर्स) नियुक्त हों तथा प्रत्येक कारागार के लिए सरकारी अधिकारियों तथा ग़ैर–सरकारी अधिकारियों को मिलाकर परामर्शी मंडल नियुक्त हो। कारागारों के निरीक्षकों तथा परामर्श मंडलों के सुझावों पर सरकारी स्तर पर त्वरित एवं उचित कार्यवाही हो अन्यथा ये मंडल भी प्रभावहीन हो जाएँगे।

कारागारों में व्याप्त भ्रष्टाचार के लिए जनता भी उतनी ही ज़िम्मेदार है जितना जेल

का प्रशासन। कैदियों से साक्षात्कार के समय मिलने वाले उनके संबंधी या मित्र भाँति–भाँति की चीज़ें अवैध रूप से उनके पास पहुँचा देते हैं। ऐसे व्यक्तियों के विरुद्ध भी भारतीय दंड संहिता की धारा 424 के अंतर्गत कार्रवाई होनी चाहिए। कैदी जेल में साक्षात्कार के दौरान तथा अदालतों में पेशी के दौरान नशीली दवाएँ, शराब आदि अवैध वस्तुएँ जेल में ले आते हैं। इसके साथ–साथ जेल में तैनात सिपाही तथा अधिकारी भी उनके इन अवैध कारनामों में सहायता करते हैं। इस व्यापक तथा सुव्यवस्थित भ्रष्टाचार के जाल को नष्ट करने के लिए कारागारों में जेल विभाग के अतिरिक्त अन्य विभागों को भी स्वतंत्र रूप से कार्रवाई करने का निर्देश दिया जाना चाहिए ताकि जेलों में निहित स्वार्थ–सुधारों को स्थान न मिल सके। क़ानून का शिकंजा सभी को समान रूप से जकड़ सके और कैदियों के मन में सत्य तथा समानता के प्रति विश्वास दृढ़ हो।

कैदियों के मुक़दमें वर्षों तक अदालतों में लंबित रहते हैं। कभी–कभी तो विचाराधीन कैदी अपने अपराध के लिए निर्धारित दंड सीमा से भी अधिक समय के लिए भी जेल में रह जाते हैं क्योंकि न तो उनकी कोई जमानत देने वाला होता है और न ही अदालतों के सामने तक वे पहुँच पाते हैं। 'कामन कॉज बनाम भारत सरकार' तथा आर. डी. उपाध्याय बनाम आंध्र प्रदेश राज्य मामलों में सर्वोच्च न्यायालय ने आदेश दिया कि निर्धारित सीमा से अधिक अवधि के लिए दंड भुगतने वाले कैदियों की स्वयमेव रिहाई होनी चाहिए। अतः विचाराधीन कैदियों की रिहाई का अधिकार स्थापित किया गया। इन आदेशों के अनुपालन से देश भर में हजारों कैदी जेलों से छूट गए। कैदियों के मामलों की सुनवाई के लिए जेल तथा अदालत के बीच वीडियो–संवाद स्थापित करने के प्रयत्न चल रहे हैं ताकि रिमांड कैदियों को अदालत तक न जाना पड़े जोकि पुलिस प्रशासन के लिए अति कष्टसाध्य है तथा इसमें धन का अपव्यय होता है। इस वीडियो–कानफ्रेंस का प्रयोग आंध्र प्रदेश, बिहार, तमिलनाडु राज्यों में सफलतापूर्वक हो रहा है। भारत के उच्चतम न्यायालय के पूर्व मुख्य न्यायाधीश माननीय श्री वी.एन. खरे ने यह निर्देश दिया है कि दिल्ली ज़िला न्यायालयों के दंडाधिकारी तिहाड़ जेल में जाकर विचाराधीन कैदियों को सुनें क्योंकि सौ लोगों के एक के पास जाने से बेहतर है कि एक व्यक्ति सौ लोगों के पास चला जाए। यह प्रत्येक चौखट तक न्याय पहुँचाने की दिशा में प्रथम क़दम है। यह प्रयोग कम से कम भारत के महानगरों में तुरंत लागू किया जाए ताकि जेलों में अनावश्यक रूप से यातना सह रहे कैदियों को त्वरित न्याय मिल सके। कम से कम दंडाधिकारियों तथा न्यायाधीशों को जेलों का नियमित रूप से परिदर्शन करना चाहिए। न्यायालयों द्वारा लंबित मुक़दमों को शीघ्र निबटाने तथा जेल में कैदियों को निःशुल्क क़ानूनी सहायता प्राप्त होने से भी जेलों में बंद कैदियों को काफ़ी राहत मिलेगी। यह जेलों में ठोस सुधारात्मक क़दम सिद्ध होगा।

कारागार को सुधारगृह में परिवर्तित करने के लिए आवश्यक है कि कारागार के अंदर कैदियों को व्यस्त रखने के लिए समुचित साधन या व्यवस्था उपलब्ध हो। सर्वोत्तम यही होगा कि उन्हें विभिन्न हस्तशिल्प, उद्योग, बाग़वानी या अन्य प्रशिक्षण अथवा सेवा के कार्यों में व्यस्त रखा जाए। ऐसा होने से उनके लिए जेल की ऊँची दीवारों के बीच समय व्यतीत करना आसान हो जाएगा तथा उनकी उत्पादन शक्ति का उपयोग भी समाज के हित या

देश के हित में किया जा सकेगा। कारागार की चारदीवारी में यदि उन्होंने कोई नया पेशा या उद्योग–धंधा भली–भाँति सीख लिया तो जेल से बाहर आने पर उनकी अपराध जगत में वापसी असंभव हो जाएगी। क़ैदियों के लिए जेल में उपयुक्त मनोरंजन तथा खेल के साधन भी हों जैसे टेलिविज़न, रेडियो, कैरम, लूडो, शतरंज, टेबुलटेनिस, फुटबाल आदि।

कारागार के भीतर समय–समय पर सांस्कृतिक कार्यक्रमों का आयोजन हो तथा उनमें क़ैदी भी भाग लें ताकि वे भी समाज से जुड़ें तथा वे अपराध वृत्ति की मानसिकता से उबर सकें। क़ैदियों की ओर से भी कारागार में रक्तदान शिविर इत्यादि सामाजिक हित के आयोजन हों ताकि समाज भी यह अनुभव करे कि क़ैदियों के मन में समाज के प्रति सद्भावना उत्पन्न हो रही है।

कारागार के भीतर 'योगासन' तथा व्यायाम का नियमित अभ्यास हो ताकि क़ैदियों का मानसिक तथा शारीरिक स्वास्थ्य ठीक रहे। उन्हें शास्त्रीय संगीत सुनाया जाए, नैतिक शिक्षा दी जाए तथा महापुरुषों के वचनों के द्वारा उनका मानसिक निर्मलीकरण हो। तिहाड़ जेल में स्वयंसेवी संस्थाओं द्वारा संचालित 'जीने की कला' और 'विपासना' प्रशिक्षण कार्यक्रमों के माध्यम से क़ैदियों के जीवन मूल्यों में अभूतपूर्व परिर्वतन हुआ जिससे संपूर्ण कारागार का परिवेश ही बदल गया। जेल से भ्रष्टाचार ख़त्म हुआ तथा तिहाड़ जेल में नए जीवन स्पंदन तथा उत्साह का संचार हुआ। क़ैदियों के साथ–साथ लंबी सज़ा प्राप्त क़ैदियों, कारागार के कर्मियों तथा अधिकारियों को भी इस प्रकार के शारीरिक तथा मानसिक उन्नति के कार्यक्रमों में संलग्न करना अत्यावश्यक है, क्योंकि वे ही कारागार में स्थायी हैं जबकि अन्य क़ैदी आते जाते रहते हैं। उन्हें उचित प्रशिक्षण देकर स्थायी प्रशिक्षक तैयार किया जा सकता है।

इसी प्रकार जेलों में शिकायत निवारण तंत्र स्थापित होना चाहिए ताकि कारागार–प्रशासन के प्रत्येक स्तर को ठीक किया जा सके। शिकायत–पेटिका सुलभ तथा गोपनीय रूप से बंदियों को उपलब्ध होनी चाहिए ताकि वे भयरहित होकर शिकायतें कर सकें। क़ैदियों को उनके कार्य के लिए आर्थिक रूप से या सज़ा कम करके पुरस्कृत भी किया जाए।

जेल में पंचायत व्यवस्था करने से जेल के समस्त प्रशासन पर रचनात्मक नियंत्रण स्थापित हो जाएगा क्योंकि इन पंचायतों में चक्रीय रूप से सभी को काम करने का अवसर मिलता है। जेल में भोजन, आवास, चिकित्सा सेवाएँ, स्वच्छता, मनोरंजन तथा व्यावसायिक प्रशिक्षण आदि सभी विभागों के लिए पंचायतें पृथक्–पृथक् हो सकती हैं जो मिलकर महापंचायत में अंतिम निर्णय लेंगी। इन पंचायतों के गठन को पश्चिम बंगाल संशोधनात्मक सेवा अधिनियम, 1992 की धारा 61 के अनुसार अनिवार्य कर दिया गया है। इसी प्रकार महिलाओं के लिए भी पृथक् जेल एक उत्तम तथा सर्वमान्य उपाय है।

कुछ राज्यों में खुले कारागार हैं जहाँ लंबी सज़ा प्राप्त क़ैदी अपनी सज़ा के अंतिम काल में परिवारों के साथ रहते हैं तथा अपना सामान्य जीवनयापन करते हैं। इससे दूसरे क़ैदियों में भी प्रतियोगिता बढ़ती है। जेलों की हिरासत में घटित अपराधों का संज्ञान गंभीरतापूर्वक लिया जाता है, क्योंकि यह देश के प्रशासन को सीधी चुनौती है। जेल प्रशासन देश के प्रशासन का प्रतीक तथा उसका मेरुदंड है।

इसी प्रकार यदि जेल के अंदर किसी बंदी के साथ अपराध हो, मारपीट हो या उसकी रक्षा में लापरवाही हो, उसके लिए दोषी कर्मियों या अधिकारियों को कड़ी से कड़ी सज़ा मिलनी चाहिए। हिरासत में अपराध करना कायरता है क्योंकि दूसरा व्यक्ति निरुपाय तथा असहाय है। जेल की अभिरक्षा वस्तुतः सरकार का ही संरक्षण है, क्योंकि शासन ने ही उन्हें अपने क़ैदियों के प्रति संरक्षक की ज़िम्मेदारी सौंपी है। राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग तथा राज्य मानव अधिकार आयोग को जेल की हिरासत में मौत की चौबीस घंटे के भीतर सूचना देने से जेल का प्रशासन सतर्क हो गया है तथा मानव अधिकार आयोग के सदस्य या प्रतिनिधि कभी भी अचानक जेलों का निरीक्षण करके वस्तुस्थिति का पता लगा सकते हैं।

सारांशः

यह ठीक ही है कि भारत में कारागारों की स्थिति में क्रांतिकारी परिवर्तन की आवश्यकता है। इसके लिए केन्द्र सरकार के गृह मंत्रालय ने सभी नियमों को ताक़ में रखकर एक केन्द्रीय योजना वर्ष 2002 से 2007 तक के लिए पूरे देश के कारागारों के लिए शुरू की है। इसके अंतर्गत पाँच वर्षों में प्रायः एक हजार करोड़ रुपया खर्च करके देश के कारागारों के प्रशासन का कायापलट होगा। इसके साथ–साथ प्रायः प्रत्येक केन्द्रीय वित्त आयोग भी प्रत्येक पाँच वर्षों के लिए जेलों में विभिन्न सुधारों को लागू करने के लिए प्रायः पांच सौ करोड़ रुपए की धन राशि उपलब्ध कराता है। इन योजनाओं के लागू होने के बाद राज्य सरकारों द्वारा धनाभाव की शिकायत करना उचित नहीं होगा। आवश्यकता है राज्य सरकारों में दृढ़ इच्छाशक्ति की ताकि वे इन योजनाओं से लाभ उठाकर अपने कारागारों में क़ैदियों की दशा में सुधार हेतु विभिन्न प्रशासनिक तथा कार्मिक सुधार लागू करें तथा अपनी सुशासन–क्षमता को सिद्ध करें। क़ैदियों के जेल से छूटने के पश्चात् निश्चित पुनर्वास कार्यक्रम आरंभ करें जैसे कि मध्य प्रदेश में डकैतों के लिए तथा पंजाब एवं जम्मू और कश्मीर में आतंकवादियों के लिए किए गए।

इसका अर्थ यह नहीं है कि जेलों के भीतर इतनी सुविधाओं का अंबार लगा दिया जाए कि अपराध करना एक लाभ का सौदा हो जाए तथा जेल उनके आश्रय स्थल हो जाएँ। जब तक अपराधी जेल के बाहर रहें, तब मौज–मस्ती करें तथा जेल के भीतर जाकर और अधिक आनंदोत्सव मनाएँ। इन दोनों में उचित संतुलन होना चाहिए ताकि समाज में अपराध करने वाले को समुचित दंड मिले तथा वह दंड भोगने के साथ–साथ जब कारागार से बाहर आए तो अपने गत जीवन को भूलकर समाज में एक सभ्य तथा अनुशासित नागरिक की भांति जीवन व्यतीत करे। अतः कारागार में जीवन मान का समाज के जीवन मान से अन्योन्याश्रय का संबंध होना चाहिए। ऐसा न हो कि देश के सैकड़ों निर्धन मनुष्य या बंगलादेश के अवैध घुसपैठिए भारत की जेलों में प्रवेश पाने के लिए अपराध करें ताकि उनको वे चिकित्सा सुविधाएँ प्राप्त हो सकें जो उनके जीवनस्तर के अनुसार अप्राप्य थीं। अंततोगत्वा हम इस सर्वमान्य सिद्धांत को ग्रहण करें कि भारत में कारागारों का स्वरूप क्रमशः सुधारात्मक ही हो।

संदर्भ :

1. राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग वार्षिक रिपोर्ट 1999–2000, सरदार पटेल भवन, संसद मार्ग, नई दिल्ली–110001, पृष्ठ–235
2. नागरिक तथा राजनीतिक अधिकार संबंधी अंतरराष्ट्रीय प्रसंविदा, न्यूयार्क, 16 सितम्बर, 1966, प्रभावी 23 मार्च, 1976, 15 जून 2000 तक 60 देशों ने हस्ताक्षर किए हैं तथा संबंधित पक्ष हैं–144
3. संयुक्त राष्ट्र के किशोरों के अपराधों को रोकने के लिए मार्गदर्शक नियम (रियाध निर्देशक तत्व) तथा किशोर न्याय के अनुपालन के लिए संयुक्त राष्ट्र के मानक नियम (बीजिंग नियम)
4. मेनका गांधी बनाम भारत संघ (ए.आई.आर. 1978 सु. को. 597)
5. हुसैनारा खातून बनाम गृहसचिव, बिहार (ए.आई.आर. 1979 सु. को 1360)
6. फ्रांसिस कोरेली बनाम संघ क्षेत्र, दिल्ली (ए.आई.आर. 1981 सु0 को0 746)
7. शीला बर्से बनाम भारत संघ (1983) 2 एस. सी. सी. 96
8. सुनील बत्रा बनाम दिल्ली प्रशासन, ए. आई.आर. 1978 सु. को. 1675
9. सिटीजन फॉर डेमोक्रेसी बनाम असम (1995) 3 एस.सी.सी. 743
10. डी.के. बसु बनाम पश्चिम बंगाल, जे.टी. 1997 (1) सु. को.
11. कॉमन कॉज एक पंजीकृत संस्था बनाम भारत संघ (1996) सं. को.
12. आर. डी. उपाध्याय बनाम आंध्र प्रदेश राज्य सु. को. रिट नं. डब्लू पी. (सी) 559 ऑफ़ 1994 मुक़दमा अभी भी चल रहा है।

बालश्रम : एक मानवाधिकार मुद्दा

चमन लाल

दहेज प्रथा, बाल–विवाह और छुआछूत की तरह ही बाल श्रम की समस्या को एक सामाजिक बुराई का नाम देकर हमने इसकी संपूर्ण और स्थायी हल खोजने की जिम्मेदारी से खुद को आज़ाद कर दिया है। इसके 'प्रतिषेध एवम् विनियमन' के उद्देश्य से एक नया क़ानून बनाकर हमने अपनी सोच और मंशा भी स्पष्ट कर दी है। यह क़ानून कितना अपर्याप्त है, इसका पालन किस कदर नगण्य है सर्वोच्च न्यायालय द्वारा इससे संबंधित निर्देशों की अवहलेना किस धड़ल्ले से हो रही है, इसकी जानकारी इस मुद्दे से जुड़े हर व्यक्ति को है लेकिन फ़िक्र करने वाले बहुत कम हैं।

बाल श्रम का उन्मूलन कैसे संभव हो सकता है? नियोजक बनो जिसकी तादाद और ताकत निरंतर बढ़ रही है। सस्ते और भरोसेमंद श्रम के इस विराट स्रोत को किसी सूरत में गँवाना नहीं चाहेगा। शासन और प्रशासन इसे कोई विशेष गंभीरता तथा प्राथमिकता का मामला नहीं मानते। सबसे बड़ी त्रासदी और इस समस्या की जटिलता इस तथ्य में छुपी है कि मासूम बाल मज़दूरों के माता–पिता भी उनके शोषण में शरीक होकर इस समस्या को बढ़ाने में सहायक हैं। कुछ की मजबूरी मानी जा सकती है, पर अधिकतर यह पाप अज्ञानतावश कर रहे हैं। जहाँ भी किसी ने गरीब अभिभावकों को बाल श्रम की 'इक्नॉमिक्स' के शर्मनाक पहलुओं से अवगत कराया है, गरीबों ने अपने बच्चों को काम की भट्टी से निकालकर स्कूलों में भेजना शुरू किया है।

1993 में मानव अधिकारों की बेहतर रक्षा के उद्देश्य से गठित राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग (रा0मा0अ0आ0) ने मानव अधिकारों के व्यापक दायरे में जिन विषयों में विशेष रूचि तथा पहल दिखाई है, उनमें बाल श्रम का महत्वपूर्ण स्थान है। आयोग की सोच में शोषण तथा उत्पीड़न के आम और आसान शिकार मज़दूर बच्चे समाज के अन्य वर्गों की तुलना में विशेष ध्यान तथा संरक्षण के हक़दार हैं। आयोग ने देश में बाल श्रम की स्थिति की एक स्थूल समीक्षा के बाद आतिशबाज़ी (शिवकाशी), चूड़ी (फिरोज़ाबाद), और कालीन (मिर्ज़ापुर) के कामों में लगे बच्चों पर अपना विशेष रूप से ध्यान केंद्रित किया।

वर्ष 1998 में आयोग ने मुझे उत्तर प्रदेश (उ0प्र0)की कार्पेट बेल्ट-- इलाहाबाद, वाराणसी, भदोही, मिर्ज़ापुर, जौनपुर तथा सोनभद्र में बाल श्रम की स्थिति की समीक्षा कर इस समस्या

के निदान के लिए आयोग की भूमिका तय करने की ज़िम्मेदारी सौंपी। मैंने सर्वप्रथम उ.प्र. के श्रम आयुक्त के साथ इन ज़िलों का भ्रमण किया, ज़िलाधीशों तथा श्रम विभाग के अधिकारियों से समस्या के विभिन्न पहलुओं पर जानकारी एकत्र की, स्वयंसेवी संस्थाओं से विचार विमर्श किया तथा नियोजकों और अभिभावकों से भी मिला। समस्या इतनी विकराल और जटिल लगी कि आयोग के समक्ष अपने लिए उद्देश्यपूर्ण भूमिका प्रस्तुत करना सबसे कठिन प्रतीत हुआ। तब सर्वोच्च न्यायालय द्वारा 'एम सी मेहता' केस में 1996 में दिए गए निर्देश मेरे मार्गदर्शन में सहायक सिद्ध हुए।

बाल श्रम (प्रतिषेध एवं विनियमन) अधिनियम वर्ष 1986 में लागू हो गया था। 1987 में केन्द्रीय सरकार ने राष्ट्रीय बाल श्रम नीति की घोषणा के बाद ख़तरनाक कामों से हटाए जाने वाले बच्चों को अनौपचारिक शिक्षा देने के उद्देश्य से एन सी एल पी स्कूलों की व्यवस्था लागू की। देश के प्रधानमंत्री ने 15 अगस्त 1994 को जोखिम प्रकृति के बाल श्रम के संपूर्ण उन्मूलन के प्रति राष्ट्र की प्रतिबद्धता दोहराई। इस सब के बावजूद इस समस्या के आकार तथा स्वरूप में कोई विशेष अंतर नहीं आया है। बल्कि सच तो यह है कि वैश्वीकरण, उदारीकरण और आर्थिक सुधारों ने उन ग़रीब वर्गों की कमर और तोड़ दी है जो दो वक़्त की रोटी जुटाने के लिए अपने बच्चों को कच्ची उम्र में श्रम के बाज़ार में भेजने के लिए विवश हैं।

सर्वोच्च न्यायालय ने एम सी मेहता बनाम तमिलनाडु संख्या के मामले में 10 दिसंबर 1996 के फ़ैसले में देश में बाल श्रम की स्थिति पर चिंता व्यक्त करते हुए निम्नलिखित निर्देश दिए थे :–

1 सभी प्रदेश एक विशेष सर्वेक्षण के द्वारा अपने अपने क्षेत्र में बाल श्रम की समस्या का आकलन करेंगे।

2 जोखिम के कामों में लगे बच्चों को काम से हटाकर उनकी शिक्षा की व्यवस्था की जाएगी।

3 मुक्त कराए गए बच्चे के परिवार के एक सदस्य को ग़रीबी उन्मूलन कार्यक्रम के अंतर्गत रोज़गार उपलब्ध कराया जाएगा।

4 अपराधी नियोजकों से प्रति बाल श्रमिक 20,000/– रू. की दर से राशि एकत्र कर ऐसे बच्चों के कल्याण तथा पुनर्वास के लिए एक कोष का गठन किया जाएगा।

5 ग़ैर जोखिम प्रकृति के कामों में नियोजित पाए गए बच्चों के काम के घंटे तय किए जाएँगे तथा उनके विश्राम और शिक्षा की व्यवस्था की जाएगी जिसका व्यय–भार नियोजक सहेगा।

सभी प्रदेशों की भांति उत्तर प्रदेश में 1997 के शुरू के महीनों में सर्वेक्षण कराया गया तथा उसके परिणाम सर्वोच्च न्यायालय को सूचित किए गए। जोख़िम के कामों से हटाये गए बच्चों को तत्परता से स्कूलों में भर्ती भी कराया गया है, हालांकि उनमें से कितने बच्चे वहाँ टिके रहे यह जानने का प्रयास किसी ने नहीं किया। संबंधित परिवारों के आर्थिक पुनर्वास की प्रक्रिया भी चली, लेकिन शुरू की अपनी समीक्षा से मैंने पाया कि इस दिशा में कोई ठोस काम नहीं हुआ। अपराधी नियोजकों से दंड वसूली का काम शुरू तो हुआ पर आगे नहीं बढ़ा। उनके विरूद्ध मुकदमें दायर तो हुए पर ज़्यादातर मामले भुला दिए गए और वे

आज भी लंबित हैं। अपनी रिपोर्टों में मैंने केवल कारपेट बैल्ट के ज़िलों में ही इस स्थिति की समीक्षा कर पूरे तथ्य आयोग के समक्ष प्रस्तुत किए। आयोग के आदेश से पुराने प्रकरणों के निपटारे की कार्रवाई ने जोर पकड़ा। सबसे उल्लेखनीय बात यह है कि ऐसे सर्वेक्षण कई ज़िलों में कराए गए। उनकी प्रणाली भी अलग तय की गई। इन्हें 'नान इनवेज़िवू' सर्वेक्षण कहा गया जिनका उद्देश्य समस्या के आकार का आकलन करना है। अभियोजन के डर से नियोजकों को मुक्त रखकर कामकाजी लड़कों के बारे में संपूर्ण जानकारी प्राप्त करना, उनकी शैक्षणिक पुनर्वास की व्यवस्था करना तथा उनके परिवारों को समुचित आर्थिक सहायता प्रदान कराना। इस पूरे अभियान में स्वयंसेवी संस्थाए महत्वपूर्ण भूमिका निभा रही हैं। ज़िला प्रशासन भी इन ज़िलों में पहले से ज़्यादा संवेदनशील लगता है। आल इंडिया कारपेट मैन्यूफैक्चरर्स एसोसिएशन का सहयोग भी सराहनीय है। अभिभावकों में भी बच्चों को पढ़ाने की ज़रूरत का अहसास दिखाई देने लगा है। उ. प्र. में कारपेट बैल्ट में अपने अनुभव से मैंने निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले हैं:–

1 कारख़ानों में काम करने वाले बच्चों की संख्या अब न के तुल्य है।

2 1990 से पहले क़ालीन के धंधे में लगे बच्चों की संख्या पूरे लेबर फोर्स के 20 प्रतिशत से भी अधिक थी। अब प्रशासन इसे 5 प्रतिशत से भी कम मानता है। मेरे अनुमान से यह अब भी 10 प्रतिशत के लगभग है। ये बच्चे घरेलू इकाइयों में काम कर रहे हैं जिनके मालिक क़ानून द्वारा अपने बच्चों से काम कराने की दी गई छूट का सही तथा ग़लत इस्तेमाल कर रहे हैं।

3 क़ालीन बनाने के लूम के मालिक अधिकतर अन्य पिछड़ी जातियों के हैं। काम करने वाले बच्चों में अनुसूचित जाति/जनजाति का बाहुल्य है। अब भी बिहार के ग़रीब इलाकों से बच्चों को उनके माँ बाप को पैसे का प्रलोभन दिखाकर लाया जा रहा है।

4 कई लूम मालिकों की अपनी स्थिति अब इतनी अच्छी है कि वे अपने बच्चों को तो स्कूल भेज रहे हैं। काम पर लगाए जाते हैं पड़ोस के या बाहर से लाए गए ग़रीब परिवारों के बच्चे।

5 बड़े कारख़ानों के मालिक कच्चा सामान सप्लाई करके घरेलू इकाइयों से काम करा रहे हैं। उन्हें इस बात से सरोकार नही कि वहाँ कौन काम करता है और उनके काम की शर्ते क्या हैं? उ. प्र. के श्रम विभाग ने पकड़े गए ऐसे कारखाना मालिकों को प्रमुख नियोजक मानकर उनके विरूद्ध कार्रवाई करके साहस का परिचय दिया है। खेद की बात है कि उनसे दंड वसूली के कई आदेश न्यायालयों द्वारा स्थगित भी होते रहे हैं।

6 स्वयंसेवी संस्थाएं बाल श्रमिकों को चिह्नित कराने तथा उनकी शिक्षा की व्यवस्था कराने में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रही हैं। एन सी एल पी स्कूलों का संचालन भी अधिकतर स्थानों पर इनकी मदद से ही हो रहा है। समय समय पर कुछ सस्थाएँ अक्षमता या अनियमतताओं के लिए प्रताड़ित भी की गई पर अधिकतर का योगदान सराहनीय रहा है।

7 अपराधी नियोजकों से दंड वसूली के परिणाम सबंधित अधिकारियों की रूचि तथा मेहनत के बावजूद अभी संतोषजनक नहीं कहे जा सकते। कोर्ट में दायर मुकदमें भी अपनी

पुरानी धीमी चाल से चल रहे हैं तो भी बीच–बीच में कुछ लोगों के विरूद्ध प्रभावी कार्रवाई से संबंधित हलकों में डर पैदा हुआ है और आम जनता में बालश्रम के विषय में जागरूकता आई है।

8 बालश्रम की समस्या का सीधा संबंध वयस्क रोज़गार की स्थिति से है। यदि वयस्कों को ही काम पर लगाया जाए और उनको निर्धारित न्यूनतम मज़दूरी मिलती रहे तो बहुत परिवार अपने बच्चों को काम की भट्टी में नहीं झोंकेगे। भदोही तथा जौनपुर ज़िले में एक स्वयं सेवी संस्था (बाल अधिकार परियोजना) द्वारा एक प्रशंसनीय काम किया गया। काम से हटाए गए बच्चों के परिवार से एक महिला को क़ालीन बुनाई प्रशिक्षण दिया गया। उन्हें स्वयं सहायता समूहों में गठित कर 20–25 महिलाओं की क़ालीन बुनाई यूनिट स्थापित की गई। इस प्रयास को आगे बढ़ाने की जरूरत पर जोर दिया जा रहा है। नवम्बर 1997 में सर्वोच्च न्यायालय ने राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग को पूरे देश में बँधुआ श्रम अधिनियम के अनुपालन में अनुवीक्षण का उत्तरदायित्व सौंपा। चूंकि कई प्रदेशों में बाल श्रमिक बंधुआ स्थिति में पाए जाते हैं, आयोग ने विभिन्न प्रदेशों में बँधुआ श्रम की स्थिति की समीक्षा में बाल श्रम की स्थिति को (मई 2000 से) भी शामिल कर लिया। पिछले तीन वर्षों में मैंने आयोग द्वारा उ. प्र., मध्य प्रदेश, राजस्थान, बिहार, महाराष्ट्र तथा उड़ीसा में बालश्रम की स्थिति की समीक्षा में भाग लिया। इन समीक्षाओं से संबंधित निम्नलिखित तथ्य रूचिकर और चौंकाने वाले लगेंगे।

1 1997 में सर्वोच्च न्यायालय द्वारा निर्देशित सर्वेक्षण से लेकर अब तक इन प्रदेशों में जोखिम–धंधों में चिह्नित तथा हटाए गए बच्चों की संख्या निम्न प्रकार है–

उत्तर प्रदेश	28, 862
मध्य प्रदेश	8, 739
बिहार	21, 281
राजस्थान	3, 026
महाराष्ट्र	8, 558
उड़ीसा	23, 761

2 केवल म. प्र. में काम से हटाए गए सारे बच्चे स्कूलों में भर्ती कराए गए। उ. प्र. में उनकी संख्या 86 प्रतिशत है तथा बिहार को छोड़कर अन्य में 80 प्रतिशत के लगभग। बिहार में यह लक्ष्य 50 प्रतिशत तक प्राप्त हुआ। यह कहना आवश्यक है कि ये आँकड़े अपने आप में विशेष महत्व नहीं रखते। स्कूलों में दाख़िल किए बच्चों में से कितने बच्चों ने प्राथमिक शिक्षा पूरी की और कितने ड्राप कर गए यह जानकारी उपलब्ध नहीं है। यह सोचना ग़लत नहीं होगा कि इनमें से अधिकतर बच्चों ने स्कूली शिक्षा पूरी करने से पहले ही स्कूल छोड़ दिया होगा।

3 अपराधी नियोजकों से 20,000 रू. प्रति बाल श्रमिक की दर से दण्ड वसूली के आदेश सभी प्रकरणों में जारी हुए। वसूली केवल उ. प्र. में एक करोड़ रू. के लगभग हुई।

महाराष्ट्र में केवल 7 लाख 64 हजार रूपये, म. प्र. में 1 लाख 45 हजार, उड़ीसा में 1 लाख 20 हजार, बिहार में 80 हजार तथा राजस्थान में 60 हजार वसूल किए गए।

4 संबंधित परिवारों के पुनर्वास के लक्ष्य की प्राप्ति 10 से 20 प्रतिशत के बीच रही।

5 अभियोजना की स्थिति सभी जगह शोचनीय पाई गई। केवल उ. प्र. में 1729 मामलों का निपटारा हुआ। सज़ा केवल 304 मामलों में ही हुई।

बालश्रम की समस्या की जटिलता का एक पहलू है इसके आकार के बारे में सही तथा विश्वसनीय जानकारी का न होना। 1991 की जनगणना के अनुसार देश में बाल श्रमिकों की संख्या थी 1 करोड़ 13 लाख जबकि नेशनल सैंपल सर्वे आर्गेनाइज़ेशन (एन एस एस ओ) का 1987–88 का आकलन था 1 करोड़ 70 लाख। भारत सरकार के श्रम मंत्रालय की 1992 की रिपोर्ट में यह संख्या 4 करोड़ 40 लाख बताई गई है। ह्यूमन राइट्स वाच 1994 में इसे 7 करोड़ 50 लाख बताया गया। एन जी ओ सेक्टर के अनुमान से देश में बाल श्रमिकों की संख्या 4 करोड़ 40 लाख से लेकर 10 करोड़ तक है। रा. मा. अ. आ. इन आकड़ों को विशेष महत्व नहीं देता। इसकी सोच इस विषय पर स्पष्ट और सीधी हैं। 5 से 14 वर्ष की आयु का हर ऐसा बच्चा जिसे स्कूल में होना चाहिए, किन्तु वह वहाँ नहीं है बाल श्रमिक है वास्तविक या संभावित। इस आधार पर देश में बाल श्रमिकों की संख्या 10 करोड़ से ऊपर ही आएगी। समस्या का सही आकार यह है। इस डरावने तथ्य को स्वीकार करने के बाद ही हम इसका हल खोजने की दिशा में आगे बढ़ सकते हैं।

इस समस्या की जटिलता का दूसरा महत्वपूर्ण पहलू है ग़रीबी का तर्क। यह एक ऐसी समस्या बन गई है जिसकी वजह को उसकी अपरिहार्यता ही नहीं बल्कि औचित्य के रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है। बहुत से लोग सोचते हैं कि बाल श्रम का उन्मूलन तब तक संभव नहीं जब तक देश से गरीबी को पूरी तरह से हटा नहीं लिया जाता। जब तक गरीबी है, यह बीमारी भी रहेगी। हालांकि इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि गरीब परिवार बच्चों को स्कूल के बजाए काम पर भेजने के लिए मजबूर हैं, गरीबी बालश्रम का मूल अथवा प्रमुख कारण नहीं है। इस समस्या के गहरे और सही अध्ययन से यह बात भी साफ हो जाएगी कि गरीबी बाल श्रम का कारण कम है उसका परिणाम ज्यादा। बालश्रम का अनिवार्य परिणाम है वयस्कों को काम न मिलना तथा उनके वेतन में गिरावट। मेरा दावा है यदि प्रशासन न्यूनतम मज़दूरी अधिनियम को सख़्ती से लागू कर दे ज़्यादातर गरीब परिवार अपने बच्चों से काम करवाना बंद कर देगें।

एक और पहलू? यह एक आम भ्रांति है कि निर्धन माँ बाप अपने बच्चों को शिक्षित बनाने में रूचि नहीं रखते। कई तरह के अजीबोग़रीब तर्क सुनने को मिलते हैं कि इस सिलसिले में हमारी शिक्षा अनुपयोगी है, अरूचिकर हैं, कम उम्र में कोई काम सीखकर बच्चे शीघ्र अपने पांव पर खड़े हो सकते हैं आदि–आदि। मेरा अनुभव बताता है कोई ग़रीब व्यक्ति नहीं चाहता कि उसका बच्चा अनपढ़ रहे। सोच की बात तो यह है कि इस वर्ग के लोगों के लिए शिक्षा की व्यवस्था कैसी है? अभी भी कितने गांव ऐसे हैं जहाँ कोई स्कूल नहीं।

अध्यापकों के कितने पद रिक्त हैं ? जो भरे हुए हैं वहाँ के अध्यापक क्या नियमित रूप से पढ़ाने आते हैं ? आंध्र प्रदेश के रंगारेड्डी ज़िले में मैगसेसे पुरस्कार से सम्मानित सुश्री शांता सिन्हा ने इस भ्रांति को समाप्त कर दिया है कि ग़रीब अपने बच्चों को पढ़ाना नहीं चाहते। एम.नी. फांउडेशन ने आंध्र प्रदेश के आठ ज़िलों के 4300 गांवों में 2,40,000 बच्चों को स्कूल में भर्ती करवाकर उस क्षेत्र को बाल श्रम के कलंक से मुक्त कर दिया है। उल्लेखनीय है कि यह सब संबंधित परिवारों को किसी आर्थिक सहायता का प्रलोभन दिए बिना किया गया है। उन्हें यह महसूस कराया गया है कि उनके बच्चों का शिक्षित होना उनके तथा बच्चों के हित में है। मेरा अनुभव भी यही है। कुछ माह पूर्व बिहार के पश्चिमी चंपारण ज़िले के एक दूर दराज़ के गांव में मुक्त कराए बंधुआ श्रमिकों से बात करते हुए मैंने एक चौंका देने वाली जानकारी हासिल की। उस गाँव में दलितों के 50–60 परिवार रहते हैं जिनकी औसत दैनिक कमाई 10 रू. से भी कम है। वहां के एक मात्र प्राइमरी स्कूल के अध्यापक का देहांत कुछ अरसा पहले हो गया था। रिक्त स्थान भरा नहीं गया। उनमें से 30 परिवार अपने बच्चों को पास के एक प्राइवेट स्कूल में पढ़ा रहे हैं 30 रूपये प्रति माह फीस देकर। हम कितनी आसानी से ग़रीबों पर तोहमत लगा देते हैं कि वे अपने बच्चों की पढ़ाई के प्रति असंवेदनशील हैं।

देश को बाल श्रम के कलंक से मुक्त करने के लिए संविधान के अनुच्छेद 24 को अनुच्छेद 39 (ई), 39 (एफ) तथा 45 के संदर्भ में समझने की आवश्यकता है। तभी इस समस्या से सही परिप्रेक्ष्य में निपटा जा सकता है। अनुच्छेद 24 के द्वारा किसी भी कारख़ाने, खदान और जोखिम प्रकृति के नियोजनों में 14 वर्ष से कम उम्र के बच्चों को नियोजित करना वर्जित कर दिया गया है। अनुच्छेद 39 (इ) कमज़ोर आर्थिक स्थिति के कारण होने वाले बालकों, महिलाओं तथा श्रमिकों के स्वास्थ्य व क्षमता के शोषण पर रोक लगाता है। अनुच्छेद 45, चौदह वर्ष तक की आयु वाले बच्चों के लिए निःशुल्क अनिवार्य शिक्षा का नीति निर्देश देता है इस प्रकार संविधान ने स्वतंत्रता और ग़रिमा के वातावरण में बच्चों के सर्वांगीण विकास को शासन की जिम्मेदारी ठहराया है।

संविधान द्वारा दिए गए इस उत्तरदायित्व को निभाने के उद्देश्य से बनाए गए बाल श्रम अधिनियम के अनुच्छेद 24 में उल्लिखित जोख़िम को मेरे विचार में सही दृष्टिकोण से नहीं देखा गया। विभिन्न नियोजनों में एक कृत्रिम फर्म दिखाकर उन्हें दो श्रेणियों में बाँट दिया गया–जोख़िम और ग़ैर जोख़िम किस्म के काम। यह विचारणीय है कि क्या कोई ऐसा काम है जो बच्चों के लिए जोख़िम का न हो। जो बड़ों के लिए ग़ैर जोख़िम है जैसे खाना बनाने का काम, बच्चों के लिए वह जोख़िम का काम नहीं? बच्चों को काम से हटाने का असली उद्देश्य है उनके शारीरिक तथा मानसिक स्वास्थ्य की रक्षा करना, उनको सर्वांगीण विकास के अवसर प्रदान कराना तथा उन्हें उनका छीना गया बचपन लौटाना। यह तभी संभव होगा जब निम्नलिखित सिद्धांतों पर एक मत होकर एक नई रणनीति बनाई जाए :

1 हमारा लक्ष्य बाल श्रम का संपूर्ण उन्मूलन होना चाहिए। बाल श्रम के विनियमन की बात करने वाला कोई भी क़ानून स्वीकार्य नहीं है।

2 ऐसा कोई भी काम नहीं हो सकता जो बच्चों के लिए जोख़िम का काम न हो। नियोजनों

का वर्तमान कोडीकरण संविधान के निर्देशों के प्रतिकूल है।

3 बालश्रम की परिभाषा विकसित की जानी चाहिए ताकि 14 वर्ष की आयु से कम का कोई भी बच्चा जो स्कूल न जाता हो, बाल श्रमिक माना जाए।

4 अनुच्छेद 45 को सख़्ती से लागू कर हर बच्चे को स्कूल भेजने की व्यवस्था की जाए, उनकी शिक्षा अनिवार्यतः औपचारिक होनी चाहिए।

5 बाल श्रम की अनिवार्यता तथा औचित्य बताने के लिए ग़रीबी का तर्क देने की प्रवृत्ति पर अंकुश लगना चाहिए।

भारतीय परिदृश्य में मानव अधिकार: प्रासंगिकता और अनुपालन

प्रो. गिरीश्वर मिश्र

वर्तमान सामाजिक–राजनैतिक चिंतन में मानव मूल्यों की प्रतिष्ठा एक प्रमुख चुनौती के रूप में उभरी है। ऐसा होना अकारण नहीं है। इसके पीछे मानवीय हिंसा से जुड़ी त्रासदी की एक लंबी शृंखला है, जो आज भी थमने का नाम नहीं ले रही है। शांति के प्रयास जारी हैं, परंतु युद्ध की विभीषिका, जातीय भेदभाव, आर्थिक और यौन शोषण जैसी घटनाएँ सामाजिक संतुलन को विचलित कर रही हैं। इस प्रसंग में एक विकासशील देश के रूप में भारतीय समाज को मानव मूल्यों की स्थापना के लिए सतर्क रहना होगा और सतत संघर्ष करते रहना होगा। आने वाले समय में इस तरह की चुनौतियाँ बढ़ेंगी।

भारतीय परंपरा में मनुष्य की अवधारणा अत्यंत व्यापक रूप में प्रस्तुत की गई है और देश द्वारा स्वीकृत भारतीय संविधान में देश के नागरिकों को अनेक अधिकारों से सशक्त बनाया गया है। स्वतंत्रता मिलने के बाद के पाँच दशकों में भी भारत ने समय–समय पर क़ानून बनाकर, अंतरराष्ट्रीय प्रावधानों को स्वीकार कर और राष्ट्रीय तथा राज्य स्तरीय मानव अधिकार आयोग जैसी संस्थाओं के गठन द्वारा मानव अधिकारों की स्थापना की दिशा में महत्वपूर्ण पहल की है। ये सभी प्रयास उपयोगी हैं, परंतु अभी भी इस लक्ष्य को पूरी तरह से प्राप्त करने में हम सफल नहीं हो सके हैं।

प्रस्तुत लेख में भारतीय दृष्टि में मानव अधिकार को समाज कल्याण के व्यापक लक्ष्य के आलोक में रख कर यह विचार किया गया है कि ऐसे कौन से मुख्य सरोकार हैं, जहाँ मानव अधिकार की स्थापना और संवर्धन में कठिनाई आ रही है। लेख के अंत में यह अवधारणा विकसित की गई है कि लोकतांत्रिक व्यवस्था में व्यक्ति के स्थान पर सामान्यजन की भागीदारी और संस्थाओं का विशेष महत्व है। अतः मानव अधिकारों के पालन की दृष्टि से संस्थाओं के निष्पादन (performance) पर विचार करना आवश्यक है। इस परिप्रेक्ष्य में मानव अधिकार के अनुपालन के मानकों का निर्धारण आवश्यक हो जाता है। इसी के साथ संस्थाओं द्वारा मानव अधिकारों के अनुपालन की देखरेख या निगरानी (monitoring) की सतत जाँच भी आवश्यक हो जाती है।

मानव अधिकार और समाज कल्याण

कल्पनाशील कवियों, यथार्थ को उकेरते कथाकारों, नीति–विशेषज्ञों, बुद्धिजीवियों, राजनयिकों तथा आम जनता; सभी अपने–अपने ढंग से एक आदर्श समाज की कल्पना प्रस्तुत करते हैं, जिसमें किसी तरह का कष्ट न हो, कोई दुःखी न हो, कोई ताप न हो। 'सभी सुखी हों' इस परिकल्पना को युगों–युगों से हमारी सामाजिक स्मृति में संजोया गया है, जैसा कि निम्नांकित प्रसिद्ध श्लोक में वर्णित है :

सर्वे भवन्तु सुखिनः
सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु
मा कश्चित् दुःखभाग भवेत्।।

(सभी सुखी होवें, सभी निरोगी होवें, सबका कल्याण हो, किसी को भी दुःख न हो)

विचार करने पर यह स्पष्ट होता है कि संभवतः मानव अधिकार का चरमोत्कर्ष अंहिसा की अवधारणा में प्रकट होता है। दूसरे की चिंता करना और यह सुनिश्चित करना कि उसे मन, वचन या कर्म से किसी तरह का आघात न पहुँचे, यही अहिंसा है। बिना इस अहिंसा–भाव के मानव अधिकार की रक्षा की बात बेमानी ही बनी रहेगी। इसी बात को आगे बढ़ा कर यह भी कह सकते हैं कि दूसरे का हित और सुख हमारा उद्देश्य होना चाहिए। सुख कैसे मिल सके? इसके लिए भारतीय चिंतन में 'धर्म' को आधार बनाया गया। पुरुषार्थों की चर्चा में स्पष्टरूप से निर्देश है कि 'अर्थ' और 'काम' को प्राप्त करने का प्रयास धर्म द्वारा नियंत्रित होना चाहिए :

अजरामरवत्प्राज्ञः विद्यामर्थं च चिन्तयेत्।
गृहीत इव के शेषु मृत्युनाधर्ममाचरेत।।

(अपने को चिरयुवा (अजर) और अमर मानते हुए विद्या और अर्थ की चिंता करनी चाहिए। साथ ही यह ध्यान में रख कर कि मृत्यु केश को पकड़े हुए है, धर्म का आचरण करना चाहिए)।

सबको सुख उपलब्ध कराना एक बड़ी चुनौती है। महाभारत के अनुसार जब राजा नहीं थे तो धर्म के ही आधार पर एक दूसरे की रक्षा की जाती थी :

धर्मेणैव प्रजाः सर्वे रक्षन्ति स्म परस्परम्
(समस्त प्रजाजन धर्माचरण द्वारा एक दूसरे की रक्षा करते थे)

यह स्मरणीय है कि 'सर्वजनहिताय' की चुनौती का समाधान किसी एक या अकेले व्यक्ति के सुख से नहीं संभव है। इसके लिए ऐसी व्यवस्था करनी होगी और मार्ग अपनाना होगा, जिसमें सभी शामिल हो सकें। इसीलिए आचार को 'परम धर्म' कहा गया :

आचारः परमो धर्मः
(आचार ही सबसे बड़ा धर्म है)

यहाँ आचार (conduct) का तात्पर्य सबके साथ धर्मानुकूल आचरण या व्यवहार (बर्ताव) करना है। धर्म सबको अपने में समेट कर चलता है। धर्म, धर्म इसलिए है कि वह सबको धारण करने की शक्ति रखता है। वह अनेक अवयवों को इस तरह बाँध कर चलता है कि किसी को भी किसी से दुःख न हो। धर्म की अवधारणा में परस्पर सापेक्षता केंद्र में है। धर्म के आधार पर चलने वाले समाज में समाज के सभी सदस्य महत्वपूर्ण होते हैं, न कोई छोटा होता है न कोई बड़ा। समाज में न कोई अधिक मात्रा में सुविधा पाने के लिए बना है और न कोई कम सुविधा के लिए। मनुष्य के रूप में सबका प्राप्य एक ही है और इसको स्वीकार भी किया गया है। मनुष्य के इसी स्वरूप को ध्यान में रख कर महाभारत में वेदव्यास की घोषणा है :

न हि मानुषात्परतरं किंचिदस्ति
(मनुष्य से श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है)

मनुष्य की श्रेष्ठता का उद्घोष करने का तात्पर्य यही है कि मनुष्य इस समूची सृष्टि का निष्कर्ष है। ऐसा इस कारण है कि वह यह समझ सकने में सक्षम है कि उसका दायित्व सृष्टि के संदर्भ में अन्य सभी जीवों की तुलना में विशिष्ट है। इस प्रकार की व्यापक अवधारणा में मनुष्य किस तरह एक दूसरे का परस्पर हित साधन करते हुए जीवन जिए यह आशय अंतर्निहित था, इसीलिए एक दूसरे को सुखी करते हुए श्रेय को पाने का लक्ष्य रखा गया :

परस्परं भावयन्तः श्रेयमवाप्नु
(एक दूसरे को सुखी करते हुए श्रेय को प्राप्त करें)

भारत का सामाजिक इतिहास इस बात का साक्षी है कि हम एक समाज के रूप में उपर्युक्त लक्ष्य से विचलित हो गए और समाज में शोषण करने की प्रवृत्ति बढ़ी। मनुष्य को दास बनाया गया, वह बँधुआ मज़दूर बन गया, दहेज में कमी होने पर वधू की हत्या होने लगी, ग़रीब और समाज के हाशिए पर रहने वालों को हर तरह से सताया जाने लगा, और अधिकारसंपन्न जनों के द्वारा दुर्बल लोगों को अपने अधीन कर उनका शोषण बढ़ने लगा। दूसरे शब्दों में व्यक्ति धर्म या अपनी (नागरिक) मर्यादाओं का उल्लंघन करने लगा। ऐसी परिस्थितियाँ देश की सीमा से परे अंतरराष्ट्रीय स्तर पर भी पैदा होने लगीं, जिनमें युद्ध, आतंक आदि के कारण निर्दोष साधारण आदमी भी स्त्रियों और बच्चों समेत निर्वासित और पीड़ित जीवन जीने के लिए अभिशप्त होने लगा। आज एक मनुष्य के रूप में सम्मानपूर्वक जीवन जीने के प्रश्न के आगे अनेक तरह की चुनौतियाँ खड़ी हो रही हैं। ये चुनौतियाँ मानव अधिकार की सत्ता को पुनः प्रतिष्ठापित करने के लिए प्रेरित करती हैं। इसी क्रम में संयुक्त राष्ट्र के स्तर पर तथा विभिन्न देशों में स्वतंत्र रूप से मानव अधिकारों की स्थापना और उनके सम्मान को प्रतिष्ठित करने के सतत प्रयास आरंभ किए गए हैं। स्मरणीय है कि न केवल असाधारण परिस्थितियों में ही, बल्कि सामान्य जीवन में भी आम आदमी के सामने भुखमरी, बेरोज़गारी, बीमारी, विपदा आदि की कठिन परिस्थितियों में जीना जब एक समस्या का रूप ले लेता है, तब भी मानव अधिकार के सरोकार उभर कर सामने आते हैं।

आज मानव अधिकार की अवधारणा की परिधि अत्यंत व्यापक हो गई है और वह मनुष्य की अस्मिता या पहचान को उसके समग्र रूप में अपना केंद्रीय सम्बोध्य मानती है। दूसरे शब्दों में मानव अधिकार मनुष्योचित गरिमा के साथ जीवन जीने के अवसर को सुनिश्चित करने की चेष्टा है। जनता को बिना किसी भेदभाव के विधि सम्मत नागरिक जीवन पाने का अवसर मुहैया कराया जाना आज लोकतांत्रिक सरकारों की प्रमुख ज़िम्मेदारी बन गई है। समाज के सभी सदस्यों अर्थात् उसके अंतिम सदस्य तक जीवन की सभी सुविधाएँ उपलब्ध कराना ही मानव अधिकारों का लक्ष्य है। इस प्रकार समाज कल्याण के लक्ष्य को स्थापित करने की दिशा में मानव अधिकार एक सार्थक और महत्वपूर्ण पहल है।

मानव अधिकारों की स्थापना की चुनौतियाँ

व्यापक रूप से विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि मानव अधिकारों की स्थापना लोकतंत्र की आत्मा या उसकी चेतना का सहज विस्तार है। लोकतंत्र समाज के सभी सदस्यों के लिए जिस क्षमता और समानता का वादा करता है, वह मानव अधिकारों की स्थापना के अभाव में कोरी कल्पना ही रहेगी। यदि वर्ग या जाति विशेष के या लिंग विशेष के सदस्यों के प्रति भेदभाव बरता जाता है तो इससे मानव अधिकारों की क्षति होती है और हम लोकतंत्र के स्वीकृत लक्ष्यों से भटक जाते हैं। आज भारतीय समाज में अनेक कारणों से समाज के विभिन्न समुदाय मानव अधिकारों से रहित और वंचित होकर जीवन यापन कर रहे हैं। ऐसे समूहों में प्रमुख हैं : स्त्रियाँ, जनजातियाँ, पिछड़ी जातियाँ, अल्पसंख्यक समुदाय, अनुसूचित जातियाँ, ग़रीब, अशक्त, बच्चे, विकलांग, वृद्ध, मज़दूर तथा रुग्ण लोग। यह सूची और भी लंबी हो सकती है, परंतु प्रस्तुत प्रसंग में विचार हेतु यही पर्याप्त है। इनमें से कुछ की विस्तृत चर्चा आवश्यक प्रतीत होती है।

स्त्रियों को 'देवी' का दर्जा देने और पूजनीय मानने के बावजूद उन्हें जन्म या जन्मपूर्व से लेकर आजीवन अनेक कष्टों से जूझना पड़ता है। वह अभी भी 'अबला' है अर्थात् शक्तिहीन। भ्रूण हत्या, बालिका शिशु हत्या, दहेज हत्या, अनैतिक देह व्यापार, अवैध संबंध, यौन शोषण, कम वेतन, नौकरी में भेदभाव, पारिवारिक हिंसा, तथा अनेक तरह के दुराचार को सहने के लिए महिलाएँ अभिशप्त हैं। अधिकांश परिवारों में महिलाओं को न निर्णय का अधिकार मिलता है, न आगे बढ़ने के लिए अपेक्षित प्रोत्साहन और समर्थन। अधिकांशतः वे अशक्त, परनिर्भर और असहाय रह कर जीवन भर प्रतीक्षारत रहती हैं। पुत्री, बहन, पत्नी, माँ, दादी, आदि जो भी उसके पारिवारिक रूप या भूमिकाएँ हैं, वे उसे दूसरे का मुँह जोहने के लिए बाध्य करती हैं। स्त्रियों को पुरुषों के साथ बराबरी का मौका प्रायः नहीं मिलता है। घर के बाहर पैर रखते ही महिला को असुरक्षा का सामना करना पड़ता है। नौकरी करते समय भी उसका यौनशोषण होता है और चरित्रहीन होने का ख़तरा बना रहता है। उसे अपने दायित्वों का निर्वाह करने में कठिनाई का सामना करना पड़ता है, क्योंकि नौकरी करना उसके मूल और अनिवार्य पारिवारिक दायित्व को कम नहीं करता है। उसे नौकरी को अतिरिक्त दायित्व के रूप में सँभालना पड़ता है। स्त्री के योगदान को घटाकर देखा जाता है और उसकी चारित्रिक छवि बिगड़ने में कोई देर नहीं लगती। पारिवारिक संपत्ति के वितरण में

भी स्त्री की उपेक्षा की जाती है। उसे परिवार और बाहर की दुनिया में पुरुषों के साथ बराबरी का दर्जा नहीं दिया जाता। इस तरह का भेदभाव स्त्री को मानसिक और शारीरिक रूप से उसकी क्षमता का हनन करने के साथ समाज में उसे उसका जायज़ हक़ दिलाने या अर्जित करने में बाधक बनता है। साथ ही यह स्थिति उन्हें अपनी क्षमता को व्यक्त करने का अवसर पाने से वंचित कर देती है। समाज भी उनकी व्यापक भागीदारी और योगदान का लाभ नहीं ले पाता है। मानव अधिकारों की दृष्टि से स्त्रियों को उनको द्वारा प्राप्त किए जाने वाले स्थान को दिलाना अभी एक जटिल चुनौती बनी हुई है।

मानव अधिकारों की दृष्टि से सामाजिक श्रेणियों की महत्वपूर्ण भूमिका है। राजनैतिक, ऐतिहासिक, सांस्कृतिक और आर्थिक कारणों के फलस्वरूप अधिकार और हितलाभ की दृष्टि से विभिन्न सामाजिक समुदाय या वर्ग एक जैसे नहीं हैं। समाज में भेदभाव और लड़ाई झगड़ों के पीछे विशिष्ट सामाजिक वर्गों की सदस्यता एक प्रमुख कारण है। जब हम वर्ग बनाते हैं तो 'अपना' और 'पराया' दो श्रेणियाँ बन जाती हैं और हम 'अपने' को श्रेष्ठ और 'पराए' को हीन स्थापित करने की चेष्टा करते रहते हैं। परंतु यह बात दुराग्रह, द्वेष, कुंठा आदि का भी रूप ले लेती है। इसका कुपरिणाम एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग का आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक दृष्टि से शोषण या दोहन के रूप में दिखता है। ऐसी स्थिति में मानव अधिकार के हनन को संस्थागत आधार मिल जाता है। व्यक्ति की समूहविशेष की सदस्यता मात्र उसके लिए वंचित बने रहने का आधार हो जाता है। सामाजिक परंपराओं और प्रथाओं (जैसे –छुआछूत) द्वारा भी ऐसी कठिनाई पैदा होती है। अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जन जातियों, विभिन्न धर्मों, भाषाओं और क्षेत्रों के लोगों के साथ भेदभाव, शोषण तथा जीवन के अवसरों के सीमित होने की अनेक घटनाएँ प्रकाश में आती हैं। अल्पसंख्यक या कमजोर वर्गों के लोगों को और लोगों द्वारा सताने के मामले भी मानव अधिकार के हनन को व्यक्त करते हैं।

समाज के अंतर्गत ऐसे लोग भी रहते हैं, जो कुछ विशेष तरह की परिस्थितियों में जीवन यापन करते हैं। ऐसी परिस्थितियों के लिए वे स्वयं उत्तरदायी नहीं होते। उदाहरणार्थ बच्चे, रोगी (जैसे – कैंसर या एड्स से ग्रस्त), वयोवृद्ध लोग, विकलांग (जैसे– पंगु, मूक, बधिर), दैनिक मज़दूरी (दिहाड़ी) में लगे कामगार अपने जीवन में आवश्यक सुविधाओं से भी वंचित रहते हैं। मज़बूर होने के कारण इस तरह की स्थितियों में रहने वाले लोग भेदभाव के शिकार होते हैं। इनके जीवन की दशाओं का विश्लेषण करने पर मानव अधिकारों की उपेक्षा के अनेक अवसर दिखाई पड़ते हैं।

कार्यालयों, विद्यालयों, पुलिस विभाग, स्वास्थ्य तथा अन्य क्षेत्रों के संस्थान समाज की विभिन्न ज़रूरतों को पूरा करने के लिए कार्यरत होते हैं। इनमें अन्य व्यक्तियों (उपभोक्ताओं) को सेवा प्रदान की जाती है और सेवा के विषय में एक लिखित या अलिखित अनुबंध या समझौता होता है, जो यह बताता है कि सेवा किस प्रकार और किन दशाओं में प्रदान की जानी है। ऐसे अनुबंध यह निर्देश देते हैं कि क्या करणीय है और क्या करणीय नहीं है? इनमें यह भी उल्लिखित होता है कि मर्यादाएँ क्या हैं? और किस तरह का व्यवहार अभीष्ट

है? उन मर्यादाओं के विचलन के परिणामों का व्यक्ति और संगठन या संसार के स्तर पर महत्व को भी रेखांकित किया जाता है। चूँकि वर्तमान समय में सारे कार्य इस प्रकार के संगठनों के माध्यम से ही संपन्न होते हैं, अतः यह विचारणीय हो जाता है कि उन संस्थानों की मानव अधिकार के प्रति संवेदनशीलता कितनी मात्रा में है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि मानव अधिकारों का प्रश्न एक विस्तृत दायरे में विचार की अपेक्षा करता है। इसका क्षेत्र व्यक्ति, समुदाय, संस्था, पर्यावरण आदि विभिन्न स्तरों का स्पर्श करता है और इसके अंतर्गत घर, कार्यालय, बाज़ार तथा उन सभी संस्थाओं या संस्थानों में आचरण या व्यवहार आते हैं, जो व्यक्ति की नैतिक, क़ानूनी तथा सामाजिक भूमिकाओं से जुड़े हैं। वस्तुतः लोकतांत्रिक जीवन की रीढ़ व्यक्ति नहीं, बल्कि व्यक्तियों से बनी संस्थाएँ होती हैं। अपनी इच्छा से ही सही, किंतु जब एक बार व्यक्ति संस्थाओं को अपने से श्रेष्ठ व्यवस्था करने वाला मान लेता है तो यह दायित्व भी बनता है कि यह सुनिश्चित किया जाए कि ये संस्थाएँ अपेक्षित मानदंडों और दिशानिर्देशों के अनुसार कार्य करें। संस्थाओं का संचालन यदि मर्यादाओं के अनुरूप न हो तो विशृंखलता पैदा होने लगती है, इसलिए संस्थाओं की देखरेख या निगरानी भी की जाती है और यह सुनिश्चित करने का प्रयास किया जाता है कि किस सीमा तक मानदंडों का पालन किया जा रहा है।

मानव अधिकार की अवधारणा हमें उन सभी प्रकार की श्रेणियों, वर्गभेदों और विभाजनों के आगे ले जाती है और एक ऐसा मंच प्रदान करती है, जिस पर सभी व्यक्तियों को बैठने की छूट है और सभी बराबर हैं। मनुष्य को उसकी मनुष्यता लौटाने तथा यह तय करने में कि उसकी मनुष्यता कहाँ तक अखंडित या सुरक्षित बनी हुई है, मानव अधिकार निर्णायक भूमिका निभाते हैं। मानव अधिकारों के बारे में चिंता आज की सभी चिंताओं में प्रमुख हो चली है, क्योंकि ज्ञान, प्रौद्योगिकी के विस्तार तथा संचार सुविधाओं के प्रसार के साथ मनुष्य दिन–प्रतिदिन अधिकाधिक स्वच्छंद भी होता जा रहा है। बाहरी दुनिया के बढ़ते प्रलोभनों के जाल में फँस कर वह गलाकाट प्रतिस्पर्धा में शामिल हो रहा है। इस परिदृश्य में मानव अधिकारों का उल्लंघन हमें ऐसे उपायों के बारे में विचार करने हेतु प्रेरित करता है, जो इन अधिकारों की स्थापना, पोषण और संवर्धन का मार्ग प्रशस्त कर सकें।

जिस प्रकार अन्य संगठनों की लेखा परीक्षा की जाती है और यह देखा जाता है कि आय और व्यय का ब्यौरा मेल खा रहा है या नहीं, उसी तरह विभिन्न संगठनों, कार्यालयों, संस्थाओं का भी इस दृष्टि से मूल्यांकन होना चाहिए कि वहाँ पर मानव अधिकारों की स्थिति कैसी है। इस कार्य के लिए मानव अधिकारों के अनुपालन के मानकों का निर्माण करना अपेक्षित है।

मानव अधिकारों के अनुपालन के मानक

आज मानव अधिकारों की चर्चा का प्रमुख कारण है, इन अधिकारों का हनन या उनकी अवहेलना होना। विशेष रूप से यह अवहेलना तब अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाती है, जब वह अनजाने में नहीं, बल्कि किसी व्यक्ति या संस्था द्वारा जानबूझ कर अपने निहित स्वार्थ की

पूर्ति के लिए की जाती है। साथ ही समुदायविशेष या वर्गविशेष की निजी परंपराएँ इस तरह की अवहेलना के लिए ज़िम्मेदार हो सकती हैं। ऐसी कुप्रथाओं के फलस्वरूप व्यक्ति और समाज दोनों को जटिल समस्याओं का सामना करना पड़ता है। दुर्भाग्यवश उनके तात्कालिक परिणाम आकर्षक लगते हैं, (जैसे – दहेज) । मानव अधिकारों की स्थापना तथा उनके संवर्धन हेतु मुख्यतः चार प्रकार के प्रयास अपेक्षित हैं :

(1) व्यक्ति और संस्थान के स्तर पर मानव अधिकारों के विषय में साक्षरता बढ़ाना।

(2) मानव अधिकारों के मार्ग में उपस्थित बाधाओं को दूर करना।

(3) मानव अधिकारों की अवमानना हेतु कठोर दंड का प्रावधान।

(4) मानव अधिकारों पर अमल में लाए जाने वाले कार्य की निगरानी, प्रोत्साहन और सकारात्मक प्रयासों को बढ़ाने का यत्न।

उपर्युक्त संदर्भ में एक मूलभूत आवश्यकता ऐसे उपकरण को विकसित करने की है, जिसके द्वारा एक मापदंड मिल सके, जो यह बता सके कि संगठन–विशेष में मानव अधिकारों के अनुपालन की वस्तुस्थिति क्या है? मानव अधिकारों की दृष्टि से विभिन्न संगठनों की जाँच और मूल्यांकन की अवधारणा इस परिप्रेक्ष्य में महत्त्वपूर्ण हो जाती है। इसी विधि का विकास कर यह तय किया जा सकेगा कि संगठनविशेष में मानव अधिकारों की वस्तुस्थिति क्या है? शासन की ओर से यह सुनिश्चित करने का प्रावधान होना चाहिए कि विभिन्न सरकारी या गै़र सरकारी संस्थाएँ या विभाग मानव अधिकारों के विषय में कितने सजग हैं और किस सीमा तक उन की रक्षा के लिए कटिबद्ध हैं। मानव अधिकारों के अनुपालन को, सामाजिक, औद्योगिक, शैक्षिक, क़ानूनी तथा स्वास्थ्यविषयक सेवा देने वाले संस्थानों की अनिवार्य शर्त बनाया जाना चाहिए तथा नियमित रूप से इसकी जाँच होती रहनी चाहिए कि मानव अधिकारों की संस्थाविशेष में क्या स्थिति है। इस आधार पर उन संस्थाओं की सहायता की मात्रा निश्चित की जानी चाहिए। इस दृष्टि से ऐसे संस्थान या संगठन जो मानव अधिकार के अनुपालन के मानकों का अपेक्षित स्तर पर पालन नहीं कर रहे हैं, उन्हें दंडित करने की व्यवस्था भी आवश्यक होगी। इसी दृष्टि से मानव अधिकार के अनुपालन के मानकों को विकसित करने की आवश्यकता उपस्थित होती है।

उपसंहार

राजधर्म की सही अर्थों मे स्थापना तभी संभव है, जब प्रजा को सुख हो और राजा प्रजा के सुख में ही अपना सुख भी देखे :

प्रजा सुखे सुखं राज्ञः प्रजानां च हिते हितम्।
नात्मप्रियं हितं राज्ञः प्रजानां तु प्रियं हितम्।।

(प्रजा के सुख में राजा का सुख होता है और प्रजा के हित में ही हित। जो अपने को प्रिय हो, वह राजा का हित नहीं है, प्रजा को जो प्रिय हो, वही उसका हित है)

प्रजा के सुख और हित की साधना अभी भी प्रासंगिक है। मानव अधिकार का हनन

प्रजा के सुख और हित पर आघात है। मानव अधिकारों की रक्षा के लिए अभी तक जो प्रयास आरंभ हुए हैं, उनमें प्रायः इन अधिकारों की अवहेलना की शिकायतों को दूर करने पर ही मुख्य रूप से ध्यान दिया गया है। इस तरह की पहल का अगला प्रयास एक ऐसी व्यवस्था को स्थापित करना होगा, जो विभिन्न सरकारी और ग़ैर सरकारी संस्थाओं में मानव अधिकारों के मानकों के अनुपालन की निगरानी कर सके। संस्थाओं के स्तर पर मानव अधिकारों के अनुपालन के मानकों का विकास करना अत्यंत आवश्यक है। इन मानकों के आधार पर संस्थाओं की गुणवत्ता प्रजातंत्र की अंतिम कसौटी है। शासन के द्वारा अपनाए जाने वाले विधान में इसे प्रमुख स्थान मिलना चाहिए। एक न्यायपूर्ण प्रशासन से अपेक्षा की जाती है कि दुष्ट को दंड मिलेगा, अच्छे व्यक्तियों का आदर होगा, उचित साधनों से राज्य का ख़ज़ाना भरेगा, बिना पक्षपात के न्याय होगा और अच्छी तरह से राष्ट्र रक्षा होगी :

दुष्टस्य दण्डः सुजनस्य पूजा
न्यायेन कोषस्य च संप्रवृद्धिः।
अपक्षपातोर्थिषु राष्ट्ररक्षा
पञ्चैव यज्ञाः कथितो नृपाणाम्।।

भारत में राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग की उपस्थिति से देश में मानव अधिकारों की चेतना बढ़ी है। आशा की जाती है, भविष्य में इसकी सक्रियता के क्षेत्र में मानव अधिकारों के अनुपालन के मानकों के निर्माण तथा परीक्षा के प्रश्नों पर विचार और कार्य भी सम्मिलित होगा।

आतंकवाद एवं मानव अधिकार

एस.वी.एम. त्रिपाठी

आतंकवाद को भिन्न दृष्टिकोणों से देखा जा सकता है। कुछ लोग इसे कम व्यय वाला युद्ध मानते हैं; कुछ अन्य इसे राज्य/देश के विरुद्ध राजनैतिक लक्ष्य सिद्धि के लिए संगठित हिंसा की संज्ञा देते हैं। आतंकवाद निरोधक अधिनियम 2002 की धारा – 3 में आतंकवादी गतिविधियों के लिए दंड प्रावधान का विस्तृत उल्लेख है। इसी धारा में इन गतिविधियों की विधिक परिभाषा भी दी गई है। जिस किसी भी परिप्रेक्ष्य में देखा जाए, इसके बारे में मतैक्य है कि आतंकवाद के प्रादुर्भाव तथा जीवित रखने के लिए एक महत्त्वपूर्ण सामाजिक कारक मानव अधिकारों का व्यापक वास्तविक हनन अथवा समाज के कुछ वर्गों में इस बात की विस्तृत अनुभूति है।

सामान्य रूप से मानव अधिकार ऐसे न्यूनतम अधिकारों को मानते हैं, जो प्रत्येक व्यक्ति को मानव परिवार का सदस्य होने के नाते, उन व्यक्तियों के सापेक्ष्य उपलब्ध है, जो प्रभुता के स्थान पर स्थित है। इन अधिकारों की विधिक परिभाषा मानव अधिकार संरक्षण अधिनियम 1993 की धारा – 2 (1) (डी) में दी गई है। इस परिभाषा का केंद्र बिंदु मानव जीवन, स्वतंत्रता, समता तथा गरिमा है। अधिनियम में कोई नया मानव अधिकार नहीं सृजित किया गया है। वास्तव में उपर्युक्त केंद्र बिंदुओं से संबंधित अधिकार, जो भारत के संविधान, विभिन्न अधिनियमों तथा अंतरराष्ट्रीय करारों में पहले से ही दिए गए हैं, उन्हीं को मानव अधिकारों की संज्ञा दी गई है। आतंकवाद आच्छादित क्षेत्र में जीवन, स्वतंत्रता, समता तथा गरिमा पर निरंतर आक्रमण का भय बना रहता है।

यह एक कटु सत्य है कि मानव अधिकार संबंधित कार्रवाई के बारे में नागरिकों का दृष्टिकोण परिस्थितियों के साथ बदलता रहता है। यदि कोई व्यक्ति अपराधी अथवा आतंकवादी से संबंधित है तो वह मानव अधिकार की सबसे विस्तृत परिभाषा को संज्ञान में लेकर तर्क करेंगे तथा उसी के अनुसार व्यवहार की अपेक्षा करेंगे। यदि वह आतंक पीड़ित के पक्षधर हैं तो प्रशासन तथा सुरक्षाबलों द्वारा कठोरतम कार्रवाई होती देखना चाहेंगे । दुर्भाग्यवश इस प्रकार का विरोधाभास समाज तथा शासनतंत्र के उच्चतम स्तर तक दृष्टिगोचर होता है। यहाँ तक कि प्रसार माध्यम भी कतिपय प्रकरणों में एकपक्षीय झुकाव का आभास देते हैं। समाज को इस विषय पर स्थिर मत बनाना होगा कि क्या विधिक कार्यवाही को वह समर्थन देंगे चाहे, उससे क्षणिक हानि भी हो?

वशिष्ठस्मृति में आततायी के लक्षण इस प्रकार बतलाए गए हैं :–

अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रयाणिर्धनापहः ।
क्षेत्रदारापहर्ता च षडेते ह्यातगयिनः ।। (3/19)

अर्थात आग लगाने वाला, विष देने वाला, हाथ में शस्त्र लेकर मारने को उद्यत, धन हरण करने वाला, ज़मीन छीनने वाला और स्त्री का हरण करने वाला – ये छहों ही आततायी हैं। आधुनिक युग के आतंकवादी एक प्रकार से इन आतताइयों के उत्तराधिकारी कहे जा सकते हैं, जिनकी मारक क्षमता पराकाष्ठा तक पहुँच गई है। उनकी मानसिक यात्रा सिद्धान्तों की वेदी से आरंभ होती है, परंतु अंत में संवेदना का परित्याग करके अर्थशून्य हिंसा पर केंद्रित हो जाती है। संसार का सबसे निम्न श्रेणी का सुरक्षाबल इतनी बर्बरता तथा क्रूरतापूर्ण आचरण नहीं कर सकता है, जितना आतंकवादी करते हैं। इसका व्यक्तिगत अनुभव लेखक को उत्तर प्रदेश के तराई के क्षेत्र में 1991–92 में, पंजाब, जम्मू तथा कश्मीर और पूर्वोत्तर राज्यों में 1993–96 में प्रचुर मात्रा में हुआ है।

अज्ञान तथा अभाव सर्वनाश का पथ इंगित करते हैं। ये दोनों आतंकवादियों के लिये उर्वर भूमि का कार्य करते हैं। आतंकवाद पनपने में पर्याप्त समय लगता है तथा उसके लक्षण शनैः–शनैः समाज तथा दैनिक व्यवस्था पर दिखाई देने लगते हैं। फिर भी प्रशासन द्वारा निरोधात्मक तथा संशोधन की कार्रवाई में प्रायः झिझक के कारण विलंब होता है। चूँकि आतंकवादी गतिविधियों में अधिकांश स्वदेशवासी ही होते हैं, इसलिए किस प्रकार और कितना विश्वास अथवा अविश्वास उन पर किया जाए, यह विडंबना सर्वथा सामने रहती है।

व्यावहारिक रूप से आतंकवादियों द्वारा तीव्र गति, नवीनतम युद्ध पद्धति, धैर्य, दृढ़ता तथा गुप्त रूप से कार्य करने की क्षमता का प्रदर्शन किया जाता है। वर्तमान परिप्रेक्ष्य में उन्हें शत्रु देशों से सहायता भी बिना अधिक प्रयास के प्राप्त होती रहती है। उन्हें आधुनिकतम अस्त्र–शस्त्र, उपकरण, सुरक्षित विश्राम तथा प्रशिक्षण–स्थल का प्रयोग उपलब्ध रहता है और वह हृदय विदारक तथा भयंकर हिंसा का सहारा लेते हैं। यही उनका सूचक चिह्न है।

आतंकवाद प्रभावित क्षेत्र में भीषण हिंसा के लक्ष्य अधिकतर वही होते हैं, जिनकी सुरक्षा सघन नहीं है; उदाहरण स्वरूप तीर्थयात्री, जिनमें निरीह महिलाएँ तथा बच्चे भी सम्मिलित हैं, अक्सर हिंसा की चपेट में आते हैं। आधुनिक विस्फोटक पदार्थों के प्रादुर्भाव से प्रत्येक ऐसी घटना में हताहतों की संख्या बढ़ती जा रही है तथा ऐसे स्तर पर पहुँच रही है, जिससे सामान्य नागरिकों में भय के साथ उन विशेष वर्गों के विरुद्ध बदले की भावना भी व्याप्त होती है, जिन्हें समाज आतंकवादियों से जोड़ देता है। इन परिस्थितियों में समाज के मुखर वर्ग माँग करते हैं कि प्रशासन, विशेषकर सुरक्षाबल, "कुछ प्रभावी कार्रवाई अवश्य करें।" ऐसी माँग का दबाव जब एक सीमा से ऊपर हो जाता है तथा यदि भरोसेमंद अभिसूचना का अभाव है तब इस "प्रभावी कार्रवाई" में अतिशय बल प्रयोग तथा मानव अधिकार हनन की संभावना बढ़ जाती है। स्थानीय प्रशासन तथा सुरक्षा बलों में भी समानांतर वर्ग भेद की भावना परिलक्षित हो सकती है, जो परोक्ष में आतंकवादी गुटों के उद्देश्य की ही पूर्ति करती है।

राष्ट्र तथा राज्य का अपरिहार्य उत्तरदायित्व है कि वह नागरिकों की सुरक्षा तथा समाज में व्यवस्था बनाए रखें। राज्य के लिए मानव अधिकारों को बनाए रखना भी उतना ही अनिवार्य है। यह संतुलन सर्वमान्य वैधानिक ढाँचे की परिधि में ही स्थापित होना चाहिए। नागरिक सुरक्षा तथा मानव अधिकार का संतुलन आतंकवाद प्रभावित समाज में और बिगड़ जाता है। प्रशासन के अधिकाधिक तंत्र आतंकवाद से सृजित हिंसा तथा अन्य विकृतियों पर तात्कालिक नियंत्रण के लिए वैधानिक पथ का त्याग करने को उचित मानने लगते हैं। लेखक के व्यक्तिगत अनुभव में ऐसे कई निष्ठावान सुरक्षा अधिकारी/कर्मचारी हैं, जो विधि व्यवस्था को छोड़ने को इस कारण तत्पर हुए क्योंकि उनकी दृष्टि में, समाज की सुरक्षा वैसे संभव नहीं थी। स्वप्रेरणा से उन्होंने फौज़दारी न्यायप्रणाली की अन्य निष्क्रिय इकाइयों का उत्तरदायित्व भी अपने कंधों पर ले लिया। तात्कालिक परिस्थितियों में उनकी इस पहल को उच्चतम प्रशासनिक स्तर से प्रोत्साहन भी मिला, परंतु बाद में यह अनौपचारिक अनुज्ञप्ति वापस ले ली गई। विभिन्न न्यायालय, राष्ट्रीय तथा प्रादेशिक मानव अधिकार आयोग तथा प्रशासन प्रणाली की माँग यही है कि समाज की सुरक्षा सुनिश्चित करते समय विधिक व्यवस्था न छोड़ी जाए, अन्यथा मानव अधिकारों का हनन सर्वथा संभव है।

यदि ऐसा करना है तब देश में आतंकवाद द्वारा उत्पन्न असाधारण परिस्थितियों से विधि अनुसार त्राण पाने के लिए क्या किया जा सकता है? सर्वप्रथम यह आवश्यक है कि आतंकवाद की आधाररूपी जनता की कठिनाइयों, उनके सापेक्ष्य अन्याय, विवेकहीन उदासीनता, तिरस्कार तथा प्रशासन में व्याप्त भ्रष्टाचार पर निरंतर दृष्टि रख कर उनका निराकरण किया जाए। यह प्रयास समाज के सभी वर्गों – जागरूक जनता, प्रशासन तंत्र, राजनैतिक दलों इत्यादि को करना पड़ेगा, परंतु स्पष्टतया मानव अधिकार के क्षेत्र में अधिकतम उत्तरदायित्व प्रशासन तंत्र, विशेषकर फौज़दारी न्याय प्रणाली से जुड़े हुए अधिकारियों का है। कुप्रशासन जहाँ एक ओर आतंकवाद को बढ़ावा देता है तो दूसरी ओर मानव अधिकार हनन का भी बहुत सीमा तक कारक है।

इसके साथ ही आवश्यकता इस बात की है कि परिचालन स्तर पर आतंकवाद के विरुद्ध कार्रवाई के लिए समुचित विधिक प्रावधान तथा पूरी तरह प्रशिक्षित, समर्थ, निष्पक्ष तथा सहिष्णु सुरक्षाबल तथा न्याय सेवा उपलब्ध रहे। जनता दल की चुनाव आयोग द्वारा बिहार में चुनाव तिथियाँ परिवर्तित करने से संबंधित याचिका के संदर्भ में उच्चतम न्यायालय की खंडपीठ के न्यायमूर्ति श्री जे. एस. वर्मा तथा श्रीमती सुजाता मनोहर ने 1995 में कहा है "प्रत्येक असाधारण परिस्थिति असाधारण उपायों की अपेक्षा करती है"। इस भावना को लेकर बहुमत में ऐसे व्यक्ति होंगे, जो आतंकवाद को नियंत्रण में करने के लिए विशेष तथा कठोर क़ानून बनाने के पक्षधर हैं। उनका तर्क है कि यदि विधिक रूप से आतंकवादियों के विरुद्ध कारगर कार्रवाई करनी है तो कार्यकारी तंत्र को और अधिक शक्ति/अधिकार दिए जाने चाहिए। यदि उसके कारण आरोपियों के कुछ परंपरागत विधिक अधिकार संकुचित होते हैं तो वह समाज के हित में मान्य होना चाहिए। वर्तमान न्यायप्रणाली इतनी उदार है कि दुर्दांत हिंसा के प्रवर्तक समाज में व्यापक भय उत्पन्न करके फौज़दारी कार्रवाई से अपने को पूर्णतया मुक्त मानते हैं।

दूसरे शिविर के लोग यह तर्क देते हैं कि वर्तमान विधि व्यवस्था में भी पर्याप्त अधिकार विद्यमान हैं। उनका पूरा तथा प्रभावी उपयोग नहीं किया जा रहा है और कठोर विशेष क़ानून बनाने से उनका दुरुपयोग किया जा सकता है। इनसे न्यायप्रणाली में विकृतियाँ उत्पन्न हो सकती हैं। प्रशासन तंत्र, विशेषकर सुरक्षा बलों के कार्यकलाप का अब तक का इतिहास इसके स्पष्ट संकेत करता है कि ऐसे क़ानून अभियुक्तों पर असहनीय भार डाल सकते हैं और उनके मूल मानव अधिकारों का ह्रास होगा । इन्हीं तर्कों के आधार पर "टाडा" निरस्त किया गया तथा "पोटा" का संसद में तथा उसके बाहर जम कर विरोध हुआ। माननीय राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग ने भी इस क़ानून को लागू करने के प्रस्ताव से अपनी असहमति स्पष्ट रूप से जताई थी । अंत में इसका दुरुपयोग रोकने के कुछ अतिरिक्त प्रावधानों के साथ आतंकवाद से संबंधित विशेष क़ानून "पोटा" संसद ने पारित किया। विश्व के कई अन्य देशों में भी आतंकवाद से निपटाने के लिए कठोर क़ानून बनाए गए हैं।

आतंकवाद से निपटने के लिए विशेष कठोर विधान बनाने चाहिए अथवा नहीं, इसके बारे में भिन्न दृष्टिकोण हैं, परंतु इस प्रश्न पर मतैक्य है कि प्रशासन, विशेष रूप से सुरक्षा तंत्र को असाधारण सतर्कता, कार्यक्षमता, अनुशासन तथा कटिबद्धता का प्रदर्शन करने के अतिरिक्त मार्मिक होना आवश्यक है, यदि वह साधारण जनता का समर्थन चाहते हैं और जनता के समर्थन तथा सहायता के बिना आतंकवाद का नियंत्रण संभव नहीं है। सुरक्षा बलों को यह विश्वास होना चाहिए कि विधिक तथा प्रभावी कार्रवाई से भी आतंकवाद जनता के सहयोग से नियंत्रित किया जा सकता है। जनता का विश्वास भी सुरक्षा बलों की निष्पक्षता, सहिष्णुता तथा कार्यक्षमता में पैदा करना आवश्यक है। समाज की मानसिकता में सर्वोपरि महत्त्व इस अनुभूति का है कि सुरक्षा तंत्र के पास व्यावसायिक स्वतंत्रता तथा क्षमता है तथा वह मात्र सत्ताधारियों का औज़ार नहीं है। यह संभव है, परंतु उसके लिए व्यापक परिवर्तन आवश्यक है। इस दिशा में भी राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग ने अत्यंत सार्थक प्रयास किए हैं। औपचारिक रूप से उन्होंने राष्ट्रीय पुलिस आयोग की संस्तुतियों को अपनाने के लिए कहा है। यहाँ तक कि राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग ने गुजरात दंगों पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए दिनांक 31 मई 2002 को बहुत दृढ़ता से केंद्र/राज्यों को आधारभूत पुलिस सुधार की ओर पुनः सक्रिय तथा प्रभावी कदम उठाने को कहा है। वर्तमान प्रसंग में उच्चतम राजनैतिक स्तर तक ऐसा कोई संकेत नहीं मिलता है कि इस ओर कोई गंभीर चिंतन किया जा रहा है। यह चिंता तथा निराशा का विषय है।

चूँकि आतंकवाद द्वारा व्यापक तथा गंभीर रूप से नागरिकों के मानव अधिकारों का हनन होता है, इसलिए उसके नियंत्रण के लिए कठोर कदम उठाना आवश्यक तथा उचित है। फिर भी ऐसी कार्रवाई के फलस्वरूप जनता के मानव अधिकार पूर्णतया सुरक्षित रहें, इसका पूरा प्रबंध रहना चाहिए, अन्यथा निर्दोष जनता पर दोहरी चोट आएगी । अब यह समय आ गया है कि देश इस उत्तरदायित्व को विधिक परिधि में रह कर पूरा करे। भारत एकल जीवंत प्रजातंत्र है तथा उसकी सबसे बड़ी शक्ति शासन प्रबंध में जनता की सक्रिय साझेदारी है। जागरूक भारतवासी, सहिष्णु तथा सक्षम कार्यपालिका तथा सतर्क न्यायपालिका के समन्वय से ही आतंकवाद का अभिशाप दूर हो सकता है तथा मानव अधिकार सुरक्षित रह सकते हैं।

बंधुआ श्रमिक : समस्याएं एवम् समाधान

स्वामी अग्निवेश

आज से छप्पन साल पहले मुल्क आज़ाद हुआ था। आज़ादी ने भारत के करोड़ों दलितों, शोषितों, वंचितों की मुक्ति के मार्ग की राह रोशन की थी और तब उम्मीद जगी थी कि देश को बंधुआ मज़दूरी और बाल श्रम की लानत से निजात हासिल होगी। इसके लिए स्वतंत्र भारत के संविधान ने नागरिकों के मौलिक अधिकार एवं राज्य के नीति निदेशात्मक सिद्धान्तों का उल्लेख कर बंधुआ मुक्ति और बाल श्रम के उन्मूलन का पथ प्रशस्त किया था। तमाम संवैधानिक व्यवस्था के बावजूद आज भी देश का बहुसंख्यक मेहनतकश तबका और बचपन गुलाम है। देश के खेतों, खदानों, भट्ठों एवं निर्माण कार्यों में ख़ून पसीना बहाते असंगठित क्षेत्र के लगभग 36 करोड़ वयस्क मज़दूर साल भर रोज़गार के अधिकार से वंचित और ऊपर से सीमित दिनों के रोज़गार में न्यूनतम मज़दूरी से वंचित बंधुआ मज़दूरी की लानत ढो रहे हैं। दूसरी तरफ पांच करोड़ बालक/बालिकाएं (आयु छः से चौदह वर्ष की अवधि) स्कूल न जाकर बंधुआ मज़दूरी करने के लिए अभिशप्त हैं। यह हमारी समूची सभ्यता, संस्कृति और शासन व्यवस्था, न्याय प्रणाली पर एक ज़बरदस्त कलंक का टीका है।

बंधुआ श्रमिक और उन की समस्याएं एक सर्वाधिक ज्वलंत प्रश्न है जो आज समूचे देश को झकझोर रहा है। यह अनेक आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक उथल–पुथल एवम् रूग्णता का बुनियादी कारण है। यह सीधा ग़रीबी और सामाजिक विषमता से जुड़ा सवाल है। ग़रीबी रेखा से नीचे देश की आधी–आबादी ज़िंदगी ढो रही है। ज़िन्दगी में ठहराव है। देश की मेहनतकश जनता का विशाल बहुमत मुख्यतः कृषि मज़दूर, आदिवासी जनता तथा अन्य अंसगठित मज़दूर घोर दरिद्रता में जी रहे है, जिन्हें मानवीय जीवन के लिए ज़रूरी बुनियादी, न्यूनतम ज़रूरतें एवम् सहूलियतें भी मयस्सर नहीं है।

भारतीय समाज में दीर्घ काल से सामंती व्यवस्था का चलन बना हुआ है। छूआछूत, जात–पात और ऊंच–नीच की दक़ियानूसी व्यवस्था ने समाज के शोषित, पीड़ित और उत्पीड़ित वर्ग के जीवन में जहर घोल दिया है। एक ओर आर्थिक शोषण और दूसरी ओर सामाजिक उत्पीड़न के जुए के नीचे गांव के ग़रीब कराह रहे हैं। समाज के दबंग समझे जाने वाले लोग बेख़ौफ़ होकर क़ानून तोड़ते हैं और ग़रीबों के साथ पशुवत् व्यवहार करते हैं। उन्हें

गुलाम और दास बना कर रखते हैं। उन से जबरिया काम लेते हैं और उनके बच्चों को भी बंधुआ मज़दूर बना कर रखते हैं। जंगे आज़ादी के दौर में मशहूर शायर फैज़ अहमद फैज़ ने इन्हीं गुलामों को ललकारा था–

ए जुल्म के मारे, लब खोलो
चुप रहने वालों, चुप कब तक
कुछ हश्र तो इन से उट्ठेगा
कुछ दूर तो नाले जाएंगे।

बाल मज़दूरी एक अभिशाप है। अन्तरराष्ट्रीय श्रम संगठन (आई.एल.ओ.) के मुताबिक बाल मज़दूरी की सब से ज़्यादा घटनाएं भारत में ही हैं। संविधान के निदेशात्मक सिद्धान्तों का उल्लंघन करते हुए भारी तादाद में बाल जोखिम वाले उद्योगों में काम करते हैं। खेत और खलिहान के अलावा दियासलाई उद्योग, ताला, गलीचा, पत्थर तोड़ना, ईंट भट्टा उद्योग और टेनरीज और हीरे–जवाहरात के कटिंग और पॉलिश जैसे कामों में बाल श्रम जुड़ा हुआ है, जिससे उन की सेहत को भारी नुकसान होता है। बाल मज़दूरी को ख़त्म करने की बात तो दूर है। जिन बालकों को स्कूल जाना चाहिए था, वह काम कर रहे हैं और उन की कार्य दशाओं में सुधार करने के लिए कोई क़दम नहीं उठाया जा रहा है।

सब से दर्दनाक पहलू यह है कि बंधुआ मज़दूरी और बाल श्रम के उन्मूलन के संवैधानिक प्रावधानों की व्यवस्था है। अनेक क़ानून बने हुए हैं जैसे 1976 की बंधुआ श्रम प्रणाली उन्मूलन क़ानून, बाल श्रम (प्रतिबंध और नियमन) क़ानून 1986 और इस संबंध में अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर यू.एन.का कन्वेंशन आन दि राइट्स ऑफ़ दि चाइल्ड सी आर सी–1990। यू एन के अलावा अन्तरराष्ट्रीय श्रम संगठन (आई एल ओ) ने अलग से दो बड़े कन्वेंशन पारित किए । एक है– सबसे ख़तरनाक उद्योगों में बाल श्रम उन्मूलन (Convention on eradication forced labour)। तब भी बाल मज़दूरी और बंधुआ मज़दूरी का कलंक यथावत् बना हुआ है। श्रम क़ानूनों का निर्लज्ज उल्लंघन आम चलन बना हुआ है। क़ानून किताबों में बंद है। क़ानून तोड़ने वाले पुलिस, प्रशासन तथा राजनेताओं की मदद से बंधुआ मज़दूरी को बनाए हुए हैं।

बंधुआ मुक्ति मोर्चा बनाम भारत सरकार मामले में उच्चतम न्यायालय ने 1983 की 16 दिसम्बर को ऐतिहासिक निर्णय सुनाया था जिसमें उनके लिए बने हुए अन्य क़ानून जैसे प्रवासी मज़दूर अधिनियम 1979, ठेकेदारी प्रथा उन्मूलन क़ानून 1970 आदि को लागू ही नहीं किया जाता, में बंधुआ–मज़दूरी को परिभाषित किया था। न्यायालय का अभिमत था : जिसे न्यूनतम मज़दूरी नहीं मिल रही है, वह बंधुआ मज़दूर है। इसी फैसले में न्यायमूर्ति पी एन भगवती ने बंधुआ मज़दूरों को "सभ्यता का निष्कासित" करार दिया था। दिल्ली मेट्रो रेल परियोजना में हजारों मज़दूर काम कर रहे हैं जिन्हें आठ घंटे काम करने पर एक सौ बीस रूपए वेतन की व्यवस्था है लेकिन वास्तव में श्रमिकों से बारह घंटे काम लिया जाता है और वेतन के नाम पर सिर्फ उन्हें अस्सी रुपये थमा दिये जाते हैं। यह स्थिति जब देश की

राजधानी की है तब देश के दूसरे हिस्सों में उभर रहे श्रम क़ानून के उल्लंघन की स्थिति को अच्छी तरह से समझा जा सकता है।

26 जनवरी, 1950 में जब हमारे देश मे अपना संविधान विशेषतौर पर अनुच्छेद–23,24,39,45 का प्रावधान किया गया है। अनुच्छेद 23 में–दुर्व्यवहार, बेगार और बलात् श्रम पर रोक लगायी गई है। अनुच्छेद 24 में 14 वर्ष से कम आयु के बच्चों को कारख़ाना या खान में या अन्य ख़तरनाक धंधों में रखने पर रोक लगाई गई। और सबसे महत्वपूर्ण बात अनुच्छेद 39 के माध्यम से यह अपेक्षा की गई कि राज्य यह सुनिश्चित करें कि बालकों की सुकुमार अवस्था का दुरूपयोग न हो। ग़रीबी के कारण उन्हें काम पर न जाना पड़े और अनुच्छेद 45 द्वारा राज्य के सभी बालकों को 14 वर्ष की आयु पूरी करने तक निःशुल्क तथा अनिवार्य शिक्षा प्रदान करने का निर्देश दिया गया है।

उदाहरण के लिए पी यू डी आर बनाम भारत संघ ए आई आर 1982 एस सी 1440 के मामले में न्यायमूर्ति पी एन भगवती और बहरूल इस्लाम ने अंवलोकन किया कि यह भारत सरकार द्वारा स्वीकृत अंतरराष्ट्रीय श्रम संगठन का कन्वेंशन नं. 59 के ज़रूरतों के अलावा हमारे सामने संविधान की धारा 24 के अनुसार निर्माण कार्य को निःसन्देह खतरनाक काम माना। उन्होंने कहा कि भारत सरकार और हर राज्य सरकार को यह गारंटी करनी चाहिए कि देश के किसी भी भाग में संविधान की अवहेलना न हो।

क्या यह भी लिखने की जरूरत है कि देश में 92 फीसदी श्रमजीवी असंगठित क्षेत्र में है और केवल 7 से 8 फीसदी श्रमिक ही संगठित क्षेत्र में हैं? असंगठित क्षेत्र के श्रमिकों को वर्ष में सौ दिन के काम की भी गांरटी नहीं है और उन्हें न्यूनतम मज़दूरी भी उपलब्ध नहीं है। योजना आयोग का कथन है कि देश में 36 से 40 करोड़ तक अंसगठित मज़दूर हैं जो उद्योग, लघु उद्योग, कुटीर उद्योग और कृषि क्षेत्र में काम कर रहे हैं। इसे देश की दर्दनाक स्थिति का दर्पण ही कहा जा सकता है।

बंधुआ मज़दूरी और बाल श्रम से जुड़े सवालों पर गत दो दशकों से क़ानूनी और मानव अधिकारों से संबंधित संघर्ष उच्चतम न्यायालय तक लड़े गए हैं। संसद तक में इन सवालों पर चर्चा हुई है। संयुक्त राष्ट्र मानव अधिकार आयोग, अंतरराष्ट्रीय श्रम संगठन और यूनिसैफ जैसे प्रतिष्ठित संगठनों ने भी बंधुआ मज़दूरी और बाल श्रम की समस्याओं को गहरे मानवीय परिप्रेक्ष्य में समझा है तब भी समस्या ज्यों की त्यों बनी हुई है। इस के लिए और अधिक ताकत से प्रयास करने की आवश्यकता है।

बंधुआ मुक्ति मोर्चा की पहल

बंधुआ मुक्ति का सरोकार आध्यात्मिक एवं मानवीय मूल्यों से है। इस सरोकार का रिश्ता राष्ट्रीय मुक्ति से जुड़ा है। अतएव इन्हीं मानवीय मूल्यों से जुड़कर वर्ष 1982 में "बंधुआ मुक्ति मोर्चा" का गठन हुआ था। तमाम विपरीत परिस्थितियों को झेलते हुए बंधुआ मुक्ति मोर्चा के प्रयासों से एक लाख बहत्तर हजार बंधुआ मज़दूरों को गुलामी की जंजीरों से मुक्त कराने में कामयाबी मिली है और इन में अधिकतर का पुनर्वास हुआ है। अकेले

गलीचा उद्योग से ही कई हजार बाल श्रमिकों को छुड़ाया गया है और उन्हें उनके अभिभावकों को सौंपा गया तथा उन बाल श्रमिकों के पुनर्वास पर निरंतर ध्यान रखा गया है।

हमारे संविधान में जब अनुच्छेद 45 मंजूर किया गया था, तब एक मात्र यह ऐसा अनुच्छेद था जिसके साथ समय का निर्धारण किया गया था कि सार्वभौमिक प्राथमिक शिक्षा को संविधान में दस साल के भीतर हासिल करने का लक्ष्य रखा गया था अर्थात् 1960 तक देश की सौ फीसदी आबादी को प्राथमिक शिक्षा देनी थी, लेकिन यह अवधि बढ़ती गई और 2003 तक पहुंच गई है।

बाल श्रमिकों को पूर्णकालिक शिक्षा देने और शिक्षा को रोज़गार से जोड़ने का अभिनव कार्यक्रम बंधुआ मुक्ति मोर्चा ने अपने स्तर से प्रारम्भ किया है। भोजन, आवास की सुविधा देकर बाल श्रमिकों के प्रशिक्षण की व्यवस्था इस कार्यक्रम का अविभाज्य अंग है। खदान और ईंट भट्टा क्षेत्रों में पंद्रह शिक्षण संस्थाएं चालू हैं। इसी तरह का एक व्यावसायिक शिक्षा केन्द्र दिल्ली में चल रहा है।

इस शिक्षा केन्द्र में पूर्णकालिक शिक्षा का बंदोबस्त है। आवास और भोजन की निःशुल्क व्यवस्था की गयी है। बंधुआ मुक्ति मोर्चा ने 14 वर्ष तक के बच्चों को निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा की मांग रखी है उसके साथ ही बच्चों को दिए जाने वाले अल्पाहार में एक किलो चावल या गेहूं जैसा पौष्टिक आहार और बच्चों को निःशुल्क कपड़े दिये जाएं, ऐसी मांग सरकार के सामने रखी है।

बंधुआ मुक्ति मोर्चा की पहलक़दमी पर देश के राजनीतिक दलों ने इस सवाल को गंभीरता से लिया है और उनके द्वारा कई अवसरों पर संसद में भी बंधुआ मजदूरों और बाल श्रमिकों के सवाल पर चर्चा हुई है। इस बिन्दु पर, यह रेखांकित करना भी प्रासंगिक होगा कि संसदीय चुनाव के अवसर पर देश के राजनीतिक दलों ने अपने चुनाव घोषणा पत्र में बंधुआ तथा बाल श्रमिकों के सवाल को प्रमुखता से पेश किया है।

बंधुआ मुक्ति मोर्चा लगातार प्रयासरत है कि न्यूनतम मज़दूरी लागू कर इस समस्या का समाधान किया जाए। न्यूनतम मज़दूरी से हमारा यही अभिप्राय है कि जिस तरह चतुर्थ श्रेणी के सरकारी कर्मचारियों को पगार दी जाती है, उसी के बराबर की पगार सुनिश्चित की जाए। इससे समाज में मूलरूप में बदलाव तो नहीं आयेगा, लेकिन ढांचा–सुधार की दिशा में एक सार्थक पहल जरुर होगी।

भारत में कम से कम दस करोड़ बंधुआ मज़दूर हैं जिसमें 35 प्रतिशत बाल श्रमिक हैं। बाल श्रमिकों की आयु 6 से 15 वर्ष के बीच में आंकी गई है। इस आयु वर्ग को शिक्षा हासिल करने का बुनियादी अधिकार है और यह बालकों के खेलकूद के समय हो सकते हैं, बाल सुलभ मुस्कान के क्षण हो सकते हैं, लेकिन संवेदन शून्य समाज में बंधुआ मज़दूरों/बाल श्रमिकों के मानवोचित अधिकार से भी उन्हें वंचित कर दिया है। इसे क्रूरता तथा हृदयहीनता की पराकाष्ठा ही कहा जा सकता है।

संयुक्त राष्ट्र ने माना कि बंधुआ मज़दूरी/बाल श्रम, गुलामी का ही प्रतिरूप है। भारत

संसार का सबसे बड़ा जनतंत्र है। जनतंत्रवादी समाज में गुलामी एक अभिशाप है, एक कलंक है। गुलामी का समूल उन्मूलन किए बिना, एक समुन्नत लोकतांत्रिक समाज की पुनर्रचना किस तरह हो सकती है? लोकतांत्रिक आग्रह यही हो सकता है कि जल्दी से जल्दी गुलामी की बेड़ियाँ तोड़ी जाएं जिससे समाज के वंचित वर्ग के सुखमय भविष्य की परिकल्पना को साकार किया जा सके। गांधी जी की सदिच्छा थी कि समाज के अंतिम पायदान पर खड़े व्यक्ति के आंसू सबसे पहले पोंछे जाने चाहिए जिससे वह भी यह अनुभव कर सके कि यह देश उसका है और इस के निर्माण में उसकी भी महती भूमिका है।

बंधुआ मुक्ति मोर्चा ने देश की बड़ी कुर्सियों पर बैठे लोगों से यही आग्रह और अनुरोध किया था कि एक स्वतंत्र बंधुआ 'मुक्ति आयोग' का गठन कर उन की जटिल समस्या का समाधान खोजा जाए–लेकिन सत्ताधारी वर्ग ने बंधुआ मज़दूरी/बाल श्रमिकों की गुरूतर समस्या को गंभीरता से नहीं लिया। इसे साम्राज्यवादी एवं पूंजीवादी भूमंडलीकरण के मौजूदा दौर की विडंबना ही कहा जा सकता है।

हमें प्रसन्नता है कि बंधुआ मुक्ति मोर्चा के निवेदन को देश ने गंभीरता से सुना है। अनेक न्यायविद्, चिन्तक, विचारक, लेखक, पत्रकार और समाजसेवी संगठनों से जुड़े लोगों ने भारतीय जनता की ओर से 'नागरिक आयोग' का गठन कर बंधुआ मज़दूर/बाल श्रमिकों की समस्या पर चिन्तन किया है और अपनी राय प्रकट की है। इससे समाज के मूक, तिरस्कृत, प्रताड़ित तथा वंचित वर्ग की समस्याओं पर लोक चेतना का विस्तार हुआ है और 'नागरिक आयोग' की संस्तुति को मीडिया के माध्यम से राष्ट्रपति और प्रदेश सरकारों को भी भेजा था जिससे देश से बंधुआ मज़दूरी/बाल श्रम की समस्या हमेशा के लिए मिट जाए।

'नागरिक आयोग' की राय थी कि भारत में बंधुआ मज़दूरों की स्थिति पर अंतरराष्ट्रीय संगठनों, विशेष कर संयुक्त राष्ट्र की संबंधित कमेटियों से संबंधों को यथावत् क़ायम रखा जाए, जिससे देश और दुनिया में बंधुआ मज़दूरों की मुक्ति की राह सुनिश्चित हो सके।

इस मुक्ति अभियान को अंजाम देने की सबसे बड़ी ज़िम्मेदारी उच्चतम न्यायालय ने हमारे राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग के कंधों पर डाली थी पर आज अनेक वर्षों बाद भी आयोग सुप्रीम कोर्ट से स्पष्टीकरण मांग रहा है और बंधुआ मज़दूरों के दर्दनाक शोषण, उत्पीड़न के दर्जनों मामले आयोग के पास लंबित पड़े हैं। हम समझ सकते हैं कि सर्वोच्च न्यायालय हर बार हर बंधुआ मज़दूर के बारे में फैसला देकर लागू करवाता रहे इतनी उसे फ़ुरसत नहीं है पर राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग द्वारा बंधुआ मज़दूरी समस्या पर गठित विशेष समिति (जिसमें लेखक भी एक सदस्य था) की ठोस सिफारिशों को सर्वोच्च न्यायालय क्यों स्वीकार नहीं करता? और क्यों नहीं इन सवालों पर समुचित कार्यवाही के लिए आयोग को अधिकृत करता?

उधर प्रेस एवं इलेक्ट्रानिक मीडिया भी वाहियात के फूहड़ समाचारों, अंग प्रदर्शन तथा धार्मिक अंधविश्वासों को बढ़ावा देने वाले समाचारों–धारावाहिकों के बदले मानवीय संवेदना के साथ गुलामी के इस कलंक को मिटाने के लिए क्यों नहीं कमर कस कर मैदान में आता?

क्यों नहीं हम सभी मिलकर इस अति निन्दनीय और अमानवीय शोषण की प्रथा को जड़ से उखाड़ एक नए समता मूलक समाज का निर्माण करते जिसमें एक भी इंसान गुलाम नहीं होगा, जिसमें जातिपाति और छुआछूत जैसी सामाजिक कोढ़ की बीमारी का नाश किया जाएगा और गरीब–अमीर के बीच की खाई को पाटकर भारत के संविधान के संकल्प को पूरा किया जाएगा।

मीडिया तथा मानवाधिकार

बलराज पुरी

किसी भी प्रजातंत्र की तरह भारत में मीडिया का महत्वपूर्ण स्थान है और एक प्रजातांत्रिक देश के तौर पर भारत में मानवाधिकारों का भी विशेष ध्यान रखा जाता है।

2002 के आंकड़ों के अनुसार, केवल दैनिक पत्रों का प्रकाशन छः करोड़ तक पहुँच गया, जिन्हें पद्रंह करोड़ लोग पढ़ते हैं। दो वर्षों के अंदर इन आकंड़ों में 10 प्रतिशत वृद्धि हुई थी। इनमें ग्रामीण पाठकों की संख्या 48 प्रतिशत है।

अब मीडिया शहरी अंग्रेज़ी पढ़े लिखे वर्ग की इजारादारी नहीं रहा। हिन्दी, मलयालम, तमिल और तेलुगु के पत्र अंग्रेजी पत्रों को मात दे रहे हैं। दैनिक भास्कर के 1.36 लाख पाठक, मलयालम मनोरमा के 92 लाख पाठक, थेथी के 88 लाख पाठक और इनाडू के 80 लाख पाठक टाइम्स ऑफ इंडिया के 61 लाख पाठकों से अधिक हैं।

समाचार पत्रों के प्रकाशन में वृद्धि टी. वी. के आने के बाद तेज़ी से आई है। टी. वी. जो अधिकतर शहरों तक सीमित हैं, और जो 1999 में दो करोड़ नब्बे लाख घरों में देखा जाता था, 2002 में चार करोड़ घरों में पहुँच गया। टी.वी. के चैनल लगभग देश की सब प्रमुख भाषाओं में शुरू होने लगे हैं।

चूंकि मानव अधिकारों का संबंध आम जनता से है, इसलिए इनके संरक्षण का काम केवल वकीलों और संविधान विशेषज्ञों तक ही सीमित नहीं रहना चाहिए। राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग का गठन इसलिए किया गया था कि ऐसे व्यक्ति जिन्हें क़ानून की अधिक जानकारी नहीं है और जो वकीलों की फ़ीस अदा करने के क़ाबिल नहीं है, अपनी शिकायतों का हल तलाश कर सकें।

यह तभी संभव हो सकेगा जब आयोग जैसी संस्थाओं और जनता को मिलाने वाली सबसे अहम कड़ी मीडिया का पूरा प्रयोग हो सके। जन संचारण के सभी साधनों द्वारा जनता को जागरूक बनाने की ज़रूरत है कि उनके मानवाधिकार क्या हैं और उनके संरक्षण के लिए वे कैसे संघर्ष कर सकते हैं।

मीडिया स्वयं भी मानवाधिकारों के संरक्षण का एक फोरम है। यह ज़िम्मेदार मीडिया के कर्तव्यों में शामिल है कि नागरिक अधिकारों के उल्लंघन को अनावृत करें। ऐसे बहुत

से उदाहरण दिए जा सकते हैं, जहाँ बरसों से जुल्म सहने वाले लोगों की दशा पर किसी संवेदनशील पत्रकार की दृष्टि पड़ी और जिसका उसने पर्दाफ़ाश किया। ऐसी रिपोर्टों ने सामाजिक तथा राजनैतिक नेताओं के अन्तःकरण को इस जोर से झिंझोड़ा कि उस अन्याय का अंत हो गया।

इसके अलावा कोई भी व्यक्ति अपने साथ हो रहे अन्याय को "संपादक के नाम पत्र' के स्तंभ में जो प्रत्येक समाचार पत्र में किसी न किसी नाम से छपता है– प्रकाशन के लिए भेज सकता है। किसी न किसी संबंधित अधिकारी या सामाजिक कार्यकर्ता का ध्यान उस ओर आकर्षित होने पर उचित कारवाई की अपेक्षा की जा सकती है।

आमतौर पर भारत का मीडिया तथा पत्रकार मानवाधिकारों के बारें में अपनी भूमिका ज़िम्मेदारी और साहस से निभा रहे हैं। गुजरात के नरसंहार में सरकारी मशीनरी की सक्रिय भागीदारी का जिस प्रकार प्रमुख समाचार पत्रों और टी.वी. चैनलों ने भंडा फोड़ा, वह उसका एक विशिष्ट प्रमाण है।

परन्तु मीडिया तथा मानवाधिकारों से संबंधित संस्थाओं की अपनी अपनी भूमिका और महत्त्व के बावजूद उनके पारस्परिक सहयोग को बढ़ाने की जरूरत है ताकि वे और भी अधिक प्रभावी हो सकें। अतः मानवाधिकारों के किसी भी अभियान के एजेण्डा में मीडिया की स्वतंत्रता को प्रमुख स्थान मिलना चाहिए।

यद्यपि भारत के संविधान का अनुच्छेद 19 मीडिया की स्वतंत्रता की गांरटी देता है और न्यायालय इस पर अमल करवाने में सदैव चौकस रहते हैं, फिर भी समय–समय पर सरकार विशेषतः राज्य सरकारें, किसी न किसी ढंग से इस पर प्रहार करने की कोशिश करती रहती हैं।

उदाहरणतः आतंकवाद को रोकने के लिए बनाए गए अधिनियम पोटा (POTA) में यह प्रावधान है कि किसी ऐसे पत्रकार को क़ैद किया जा सकता है जिसके पास आतंकवाद के बारे में कोई भी सामग्री या सूचना हो। हर पत्रकार के व्यवसाय–कार्य में शामिल है कि वह अन्य समाचार की तरह आतंकवाद के बारे में सामग्री जमा करे ताकि उसे उचित समय पर प्रकाशित करा सके। परन्तु इस प्रावधान का मनमाने ढंग से बहुत दुरूपयोग हुआ है। कश्मीर टाइम्स के दिल्ली स्थित संवाददाता इफ़तखार गिलानी को इसी अधिनियम के अन्तर्गत छः मास तक क़ैद रखा गया। बाद में न्यायालय ने उन्हें बेक़सूर घोषित करके रिहा कर दिया। यह POTA के दुरूपयोग का एक सुस्पष्ट प्रमाण है।

इसी तरह टाइम्स के सवांददाता एलेक्स पेरी को परेशान किया गया क्योंकि उन्होंने प्रधानमंत्री की सेहत के बारे में कुछ प्रश्न चिह्न लगाए थे, या तहलका के सारे कर्मचारियों पर जिस तरह मुक़दमे बनाए गए क्योंकि उसने सरकार के उच्च स्तर पर हो रही रिश्वत कांड का पर्दाफ़ाश किया था, मीडिया पर मंडरा रहे ख़तरों की ओर अशुभ संकेत है। इस प्रकार इंडियन एक्सप्रेस और गुजराती पत्र दिव्य भास्कर के विरूद्ध इस आधार पर पुलिस केस किया गया है कि उन्होंने सामाजिक कार्यकर्ता नफ़ीसा अली का वक्तव्य छापा था जिसमें कहा गया था कि "दोनों समुदायों में कट्टरपंथी लोग हैं परन्तु किसी सारे समुदाय को कट्टरपंथी

करार देना ग़लत है। मोदी सरकार ने वह कर दिखाया जो अंग्रेज़ी सरकार भी न कर पाई, इसने गुजरात के लोगों को सांप्रदायिक लाइनों में विभक्त कर दिया है"।

मानव अधिकार आयोग तथा मानवाधिकार क्षेत्र में काम कर रही सभी संस्थाओं को उन क़ानूनों का जायज़ा लेना चाहिए जिनका उपयोग या दुरूपयोग मीडिया और पत्रकारों की स्वतंत्रता को सीमित करने के लिए किया जा सके।

जम्मू व कश्मीर में, जिसका अपना संविधान है, बहुत से क़ानून स्वतंत्रता से पहले के अब तक चले आ रहे हैं, जिन्हें पत्रकारों के सिर पर तलवार की तरह लटका कर रखा गया है। कुछ नमूने पेश किए जाते हैं। 1901 के जम्मू व कश्मीर कस्टम्स एक्ट के अंतर्गत किसी समाचार पत्र के प्रकाशन पर पाबंदी लगाई जा सकती है, जिसका कारण बताने की ज़रूरत नहीं। 1919 का जम्मू व कश्मीर न्यूज़पेपर एक्ट सरकार को अधिकार देता है कि किसी समाचार पत्र का प्रकाशन और मुद्रणालय ज़ब्त कर ले, जिसमें कत्ल करने के लिए प्रोत्साहन छिपा हो। परन्तु ऐसे आदेश के विरूद्ध अदालत में सुनवाई नहीं हो सकती। 1946 में पारित पब्लिक संपत्ति एक्ट पत्रकारों को बाध्य करता है कि वे अपनी सूचना के स्रोत बताएं और ऐसा न करने पर उन्हें क़ैद और जुर्माने की सज़ा हो सकती है।

जब से राज्य में आतंकवाद शुरू हुआ है, क़ानूनी और ग़ैर क़ानूनी तरीकों से मीडिया पर पाबंदियाँ सख़्त कर दी गई हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि आतंकवाद मानवाधिकारों और मीडिया अथवा नागरिक स्वतंत्रता के लिए सबसे बड़ा ख़तरा है परंतु मानवाधिकारों और नागरिक स्वतंत्रता पर ज़रूरत से अधिक पाबंदियाँ लगाने से आतंकवाद का काम आसान हो जाता है।

अवकाश प्राप्त जनरल अंजन रे ने अपनी पुस्तक कश्मीर डायरी में स्वीकार किया है कि समाचार पत्रों पर पाबंदियों से नुक़सान अधिक और लाभ कम हुआ है। उन्होंने कश्मीरी मुसलमानों के सबसे पावन स्थान चरार ए–शरीफ़ पर आंतकवादियों और सेना के बीच मुठभेड़ के दौरान मीडिया पर पाबंदी का वर्णन करते हुए लिखा है कि उससे संसार भर में पाकिस्तान और आतंकवादियों का पक्ष पहुँच गया परंतु कोई विपरीत पक्ष नहीं पहुँच पाया।

सरकारी पाबंदियों के अलावा कई बार समाचार पत्र राष्ट्रहित के नाम पर भी स्वयं अपने आप पर पाबंदियाँ लगा लेते हैं। इस संदर्भ में कश्मीर के ही उदाहरण से सिद्ध किया जा सकता है कि कई बार यह नीति भी राष्ट्रहित को नुक़सान पहुँचाती है। 1990 में आतंकवाद के आरंभ में सुरक्षा बलों ने उसे कुचलने के लिए ताक़त का सख़्ती और अंधाधुंध ढंग से प्रयोग किया जिससे कई निर्दोष और निहत्थे लोग भी मारे गए। समाचार पत्रों और दूरदर्शन अथवा रेडियों ने तस्वीर का एक ही रुख़ पेश किया, जिससे उनकी विश्वसनीयता ख़त्म हो गई और आतंकवादियों ने बहिष्कार करने का आह्वान दिया, जिसे लोगों ने फ़ौरन मान लिया।

स्पष्ट है कि कश्मीर का बाकी भारत से मीडिया का संबंध टूट जाना राष्ट्र के हित में नहीं था। इसके बाद मीडिया ने अपनी नीति बदली और समाचार पत्रों का दाख़िला फिर खुल गया। आतंकवादियों से समाज और मीडिया के मानवधिकारों को जो ख़तरे हैं, उसका उत्तर सरकार या मीडिया द्वारा मानवाधिकारों को अनुचित ढंग से संकीर्ण करना नहीं है। दोनों

को आतंकवादियों से कहीं अधिक मानवाधिकारों का समर्थक सिद्ध करना पड़ेगा।

एक और कारण से मीडिया कई बार समाज के मानवाधिकारों का समर्थन नहीं करता। उनकी नीतियाँ पत्रकारों और मीडिया मालिकों के निजी पूर्वाग्रह तथा स्वार्थों से भी प्रभावित हो सकती है। ऐसी अवस्था में उनकी नीतियों से आहत लोगों के मानवाधिकारों की सुरक्षा की ज़रूरत पड़ती है। इस स्थिति से निपटने के लिए प्रेस कौंसिल ने ऐसे अधिकारों की माँग की है जो न्यायालयों के पर्याय हों ताकि वे मीडिया के कर्मचारियों के विरूद्ध उचित कार्रवाई कर सकें। 28 जुलाई 2000 को एक वक्तव्य में कौंसिल के अध्यक्ष ने बताया कि साल भर में उनके पास 1200 शिकायतें मिली जिनमें से 70 प्रतिशत मीडिया के विरोध में थी।

स्वतंत्र और स्वानुशासित मीडिया किसी भी समाज में मानवाधिकारों की स्थिति का एक मापदंड है, परन्तु इसके कई और भी मापदण्ड हैं, जिनका उल्लेख इस लेख के विषय क्षेत्र से बाहर होगा। परन्तु मीडिया मानवाधिकारों के संरक्षण में क्या भूमिका निभाता है, यह इस बात पर भी निर्भर है कि मानवाधिकार संस्थान और मानवाधिकारों से संबंधित कार्यकर्ता मीडिया का प्रयोग कितना करते हैं। लेख लिखने तथा मानवाधिकरों के हनन की प्रमाणित ख़बरें पत्रकारों तक पहुँचाना भी उनके कार्यक्रम में शामिल होना चाहिए।

मानव अधिकार आयोग अन्य मीडिया का उचित प्रयोग करने के साथ ही अंग्रेज़ी और हिंदी में अपनी पत्रिकाएँ प्रकाशित कर रहा है। आशा है कि इन्हें व्यवसायिकता की दृष्टि से अधिक निपुण बनाने का प्रयत्न भी किया जाएगा। अपनी पत्रिकाओं तथा अन्य मीडिया में आयोग की कार्रवाईयाँ प्रसारण करने के अलावा, विशेष अवसरों पर, जैसा विश्व मानवाधिकार की घोषणा दिवस पर, मानवाधिकरों के अहम मील पत्थरों की निशानदेही की जा सकती है। आयोग इस सुझाव पर भी ग़ौर कर सकता है कि उन मानवाधिकारों का, जिसका सम्बन्ध आम जनता से है, प्रसारण विज्ञापनों द्वारा भी किया जाए। उदाहरणतः डी. के. बासू बनाम सरकार केस में सर्वोच्च न्यायालय ने अपने ऐतिहासिक निर्णय में किसी व्यक्ति को क़ैद करने की जो शर्ते रखी थीं, उनका ज्ञान आम जनता को अभी तक नहीं है क्योंकि इन शर्तों पर अमल न होने पर पुलिस के विरूद्ध उच्च न्यायालय में मानहानि का मुक़दमा दायर होते नहीं सुना गया जैसा कि सर्वोच्च न्यायालय के आदेश के अनुसार यह हक़ प्रभावित व्यक्ति को दिया गया था।

सिर पर मैला ढोने की प्रथा: एक सामाजिक अभिशाप

डॉ. विन्देश्वर पाठक

मानव मल को सिर पर ढोने की समस्या उतनी ही प्राचीन है जितनी कि हमारी सभ्यता। जब मनुष्य बंजारों की तरह जीता था तो तमाम सारी ज़मीन और जंगल शौच के लिए उपलब्ध थे। लेकिन जिस समय से लोग नदियों के किनारे जैसी सुविधाजनक जगहों पर बसने के लिहाज़ से इकट्ठा होने लगे परिस्थिति में फ़र्क़ पैदा होने लगा। नदियों के किनारे पीने के लिए पर्याप्त पानी था। अन्न उगाने के लिए सिंचाई योग्य ज़मीन थी। साथ रहने की उसी प्रक्रिया के साथ शुरू हुई मैला फेंकने की समस्या और उसके लिए चुने गए उस वर्ग के ऐसे लोग जो उसी समाज के अन्य लोगों की तुलना में अशक्त यानि उनके समकक्ष नहीं थे।

माना तो यह जाता है कि मैला ढोने की यह प्रथा उस पौराणिक दौर में शुरू हो गई जब समाज 15 जातियों में विभाजित हो चुका था। उसीमें एक जाति थी चाण्डाल जिसे मानव मल की सफाई का काम सौंप दिया गया। एक मनुष्य का मल दूसरे मनुष्य के कंधे और सिर का बोझ या अभिशाप बन गया। वह अभिशाप एक प्रथा में बदल गया और वह घिनौना अभिशाप आज भी उस वर्ग की नियति के रूप में जीवित है। इतिहास की यात्रा में थोड़ा और आगे बढ़ने पर हम पाते हैं कि भारत में मुग़लकालीन शासन के दौरान सूखे–संडासों का विकास हुआ और उसका इस्तेमाल सत्ता वर्ग की परदे में रहने वाली औरतों के लिए किया जाने लगा। उस दौर में औरतें अधिक असुरक्षित मानी जाती थी। अतः उनकी सुरक्षा की दृष्टि से भी यह प्रथा अन्य समर्थ जातियों में विकसित हुई। जो योद्धा युद्ध में पराजित होने के बाद बंदी बना लिए जाते थे उनसे मैला सफ़ाई का यह घिनौना काम कराया जाता था। कोई बलवान पुरुष यदि किसी पर नाराज़ हो जाता था तो गुस्से में बकता था कि तुम्हें भंगी बना कर छोड़ूंगा। इसने कालांतर में मुहावरे की शक्ल ले ली। कहने का तात्पर्य यह कि इसी क्रम में मैला ढोने वाले एक ऐसे वर्ग ने ठोस स्वरूप लिया जिसमें विभिन्न जातियों और विभिन्न सामाजिक पृष्ठभूमि के अनेक लोग शामिल कर दिए गए। धीरे–धीरे एक ऐसी जाति बनी जिसकी एक निश्चित पहचान रही और जिसने एक संस्थागत रूप ले लिया। वह भारत के सामाजिक ढांचे पर एक घिनौने धब्बे की तरह है। विडंबना यह है कि ऐसा घिनौना और अभिशप्त काम करने वाले लोग हिन्दू, सिख, मुसलमान

और ईसाई सभी धर्मावलंबियों में हैं।

काम एक ही है; नाम अलग–अलग हैं। सभी अपने दुर्भाग्य में एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। आज वे सामाजिक दृष्टि से अछूतों में अछूत हैं। वे सभी समाज की मुख्य धारा से कटे हुए एक अलग–थलग जिंदगी जीने के लिए विवश हैं। उनकी चिन्ता करने वाले आज़ाद देश के संविधान, का अनुच्छेद 17 और 42 तथा नागरिक अधिकार सुरक्षा क़ानून, उनकी ऐसी मदद नहीं कर पाता जिस पर तालियां बजाई जा सकें।

तथ्य यह है कि यही उनका पेशा रहा है और आज भी कुछ जगहों पर वह वंशानुगत तरीके से चला आ रहा है। उनके लिए उस दोषपूर्ण वृत्त से निकल पाना कठिन था जिसमें समाज ने उन्हें जबरन घेर दिया था। उनके वाल्मीकि (यानी स्केवेंजर) हो जाने के भी भिन्न–भिन्न कारण हैं। लेकिन यह वास्तविकता तो बनी हुई है ही कि वे हमारे देश के सामाजिक ढांचे में सबसे नीचे की सीढ़ी पर हैं।

इससे बड़ी सामाजिक शर्मिंदगी और क्या हो सकती है कि जिन्दगी गुजारने के लिए एक व्यक्ति को दूसरों का मैला ढोने के लिए मजबूर होना पड़े।

वाल्मीकियों की संख्या दुनिया भर में भारत में सब से ज्यादा है। कारण हमारी आबादी का ज़्यादा यानी एक अरब से अधिक होना नहीं है। चीन की आबादी तो भारत से भी ज़्यादा है, मगर वहां पर वाल्मीकियों की कोई जाति नहीं है। अंतर का मूल कारण है हमारा वर्तमान सामाजिक ढांचा जो जाति पर आधारित है। भारत के विभिन्न भाषायी क्षेत्रों में वे भिन्न–भिन्न नामों से जाने जाते हैं। यदि वे हमारे पुराणों में चाण्डाल हैं तो पंजाब में चूड़ा, दक्षिण भारत में तोत्ती और हिंदी भाषी क्षेत्रों में मेहतर। जाति का ठप्पा जो भी लगा हो वाल्मिकी लोग हमारे देश में सर्वाधिक दबाए गए लोग हैं।

महात्मा गांधी उस वर्ग को लेकर चिन्तित थे। उन्होंने उनकी समस्या को उभारा। गांधी और नेहरू जेसे नेताओं ने शौचालय सुविधा के महत्त्व पर बल दिया। गांधी जी के लिए 'शौचालय एक मंदिर' था। उनका विचार था कि स्वच्छता स्वतंत्रता से अधिक महत्त्वपूर्ण है। अपने जीवन के अंतिम दिनों में उन्होंने बड़ी पीड़ा के साथ लिखा था : 'यदि उनको पुनः जन्म लेना हो तो वह एक वाल्मीकि के घर जन्म लेना पंसद करेंगे ताकि वह वाल्मीकियों की स्थिति को सुधार सकें''। नेहरू जी ने कहा था : 'जिस दिन हमारे देश के हर स्त्री और पुरूष को प्रयोग के लिए एक शौचालय उपलब्ध हो जाएगा मुझे यह जानकारी हो जाएगी कि हमारा देश प्रगति की चोटी पर पहुंच गया है'। श्रीमती इंदिरा गांधी के बीस–सूत्री कार्यक्रम में वाल्मीकियों की मुक्ति का उल्लेख विशेष रूप में किया गया था। हमारे नेतागण और हमारी सरकारों–दोनों ने बड़े पवित्र विचारों के साथ वाल्मीकि प्रथा ख़त्म करने का क़ानून बनाया। उसे एक आंदोलन में बदलने का कठिन प्रयास किया। गांधी जी ने अपने रचनात्मक कार्यक्रम के एक भाग के रूप में ''भंगी मुक्ति'' का आंदोलन चलाया।

इस गतिरोध से निकलने का रास्ता क्या है? क्या मैं आप के सामने इस समस्या को इस रूप में प्रस्तुत कर सकता हूँ कि 'इस संदर्भ में मानवाधिकार संबंधी घोषणा का कोई ख़ास अर्थ नहीं है?। मतलब मैला ढोने की प्रथा की समाप्ति की घोषणा से है। एक

बात तो यह है कि राष्ट्रसंघ की घोषणा में जातिप्रथा को कोई संज्ञापन नहीं लिया गया है। यहां तक कि भारतीय बुद्धिजीवी जिनमें समाजशास्त्री शामिल हैं, अन्यायपूर्ण जाति व्यवस्था में लड़ने में हमेशा अपने ज्ञान और प्रभाव का इस्तेमाल नहीं करते। संविधान के अनुच्छेद–1 में एक पवित्र घोषणा है, "अपने अधिकार और अपनी मान मर्यादा दोनों में सभी लोग जन्मजात स्वतंत्र है।" अनुच्छेद 5 कहता है: 'किसी भी व्यक्ति के साथ अमानवीय व्यवहार नहीं किया जाएगा। किसी भी तरह का भेदभाव नही किया जाएगा।" यह प्रावधान अमलदारी के योग्य अभी भी नहीं है।

यह मनुष्य के अस्तित्व की एक घृणास्पद वास्तविकता है जिसका अनुभव भारत के वाल्मीकियों ने किया है। इस संदर्भ में की गई उपरोक्त घोषणाएं खोखली हैं। भारतीय वाल्मीकियों की मुक्ति सिर्फ़ देशी तकनीक और देशी औज़ारों या तौर–तरीकों से ही संभव है। भारतीय संविधान के तीन आदेशों (समानता, समदर्शिता और सामाजिक न्याय) का अनुपालन करते हुए संविधान निर्माताओं ने स्वतंत्र भारत में क़ानूनी तौर पर छुआछूत को उसके हर रूप में ख़त्म कर देने की घोषणा की। स्वतंत्रता मिलने के बाद भारत सरकार ने वाल्मीकियों के जीवन स्तर में सुधार लाने के उद्देश्य से अनेक उच्चस्तरीय समितियों का गठन किया। लेकिन उसके ठोस नतीजे समाने नहीं आए। वाल्मीकि लोग दुर्दशा के उस घेरे से बाहर नहीं निकल पाए जिसमें वे पहले से ही पड़े हुए थे।

सन् 1969 'गांधी शताब्दी समारोह' का वर्ष था। उसी में वाल्मीकि मुक्ति प्रकोष्ठ की स्थापना हुई थी। यही वह समय था जब वाल्मीकियों की मुक्ति (सफ़ाई प्रथा की समाप्ति) के संकल्प के साथ एक सामाजिक संगठन ने जन्म लिया। वह महात्मा गांधी को श्रद्धांजलि देने का सर्वाधिक उपयुक्त तरीका था। वह सुलभ स्वच्छता आंदालोन के प्रारंभ की दृष्टि से भी उल्लेखनीय था। सुलभ ने वाल्मीकियों को हाथ से मैला ढोने के अमानवीय काम से छुटकारा दिलाने और उन्हें उनके मानवाधिकार वापस दिलाने तथा उन्हें समाज में मान–मर्यादा के साथ रहने की एक योजना प्रतिपादित की।

दरअसल मानवाधिकार का ज़िक्र दुनिया भर में मनुष्य के हर तबके और श्रेणी के लिए अलग–अलग संदर्भों में किया जाता है। लेकिन जब मानवाधिकार की कोई चर्चा मेरे सामने छिड़ती है तो सबसे पहले मेरा ध्यान उन वाल्मीकियों की ही तरफ़ जाता है जिनके अधिकारों को सबसे अधिक रौंदा गया है। फिर उसका संबंध चाहे समता से हो, समानता से हो, मान–मर्यादा से हो, आर्थिक दुरावस्था से हो या सामाजिक अवमानना से। वे हर स्तर पर गहरे भेदभाव के शिकार हैं। भेदभाव की उसी मर्मांतक पीड़ा के अहसास ने सुलभ को जन्म दिया।

सुलभ एक समाजोन्मुख स्वच्छता आंदोलन है। वह प्रतिबद्ध है। प्रदूषण मुक्त पर्यावरण और शोषण से मुक्त एक ऐसे समाज के निर्माण के लिए जो सौमनस्य से परिपूर्ण हो। वह वाल्मीकियों की सामाजिक और आर्थिक मुक्ति का आंदोलन चलाता रहा है। सुलभ ने वाल्मीकियों को राष्ट्रीय जीवन की मुख्य धारा से जोड़ने का जो महाभियान शुरू किया है वह इस अर्थ में अनूठा है कि उसके जरिए वाल्मीकियों को मुक्त करने के लिए एक उपयुक्त टेक्नोलॉजी

खोज ली गई। उन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए ऐसी तकनीकी उपलब्ध है जो व्यवहार में लाने योग्य है। उसे राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय दोनो स्तर पर स्वीकृति मिली हुई है। सुलभ के सामाजिक सुधार के कार्यक्रम व्यावहारिक हैं। तौर–तरीके ऐसे कि उद्देश्य पूरे हो सकें। एक के बाद दूसरे चरणों में ऐसे आकर्षक पैकेज हैं जिनमें वाल्मीकियों की मुक्ति से लेकर उनके प्रशिक्षण, शिक्षा, पुनर्वास और अंततः उनकी सामाजिक मान–मर्यादा की वापसी। यह कार्यक्रम तब तक चलना है जब तक कि उस वर्ग का आखिरी व्यक्ति सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन की मुख्य धारा से नहीं जुड़ जाता।

संक्षेप में सुलभ की तकनीक का अर्थ है 'ट्विन पिट–पोर फ्लश वाटर सील' शौचालय विधि जिसमें दोनों गड्ढे बारी–बारी से इस्तेमाल किए जाते हैं। पहले गड्ढे के भर जाने के बाद उसका मुहाना बंद कर देते हैं। दूसरे गड्ढे का मुहाना खोल देते हैं। इस दूसरे गड्ढे को भरने में दो वर्ष लगते हैं। इस अवधि में पहले वाले गड्ढे का जल–मल धीरे–धीरे सूख कर जैविक खाद में रूपांतरित हो जाता है। मानव–मल की मौके पर ही सफाई का यह अनोखा तरीका ही वाल्मीकियों को हाथ से मैला साफ़ करने के घिनौने काम से छुटकारा दिलाता है। इसी से वे मुक्त हुए हैं।

इस टेक्नोलॉजी ने पूरे देश में आम आदमी को उसकी आर्थिक हैसियत के हिसाब से एक बजट सक्षम विकल्प दिया है। सुलभ की प्रतिबद्धता और उसका घोषित उद्देश्य वाल्मीकियों को हाथ से मैला ढोने के घिनौने काम से छुटकारा दिलाना है। इसीलिए स्वच्छता के क्षेत्र में राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय दोनों स्तरों पर उसे एक सर्वोत्तम गैर–सरकारी संगठन के रूप में मान्यता मिली हुई है।

इस तकनीक का एक दूसरा पहलू भी है। उधर भी ध्यान दिया जा सकता है। मतलब है मानवाधिकार और मान–मर्यादा अर्थात् प्रतिष्ठा। वाल्मीकियों को ऊपर उठाने का सिलसिला तो शुरू हो ही गया है मगर एक अतिरिक्त तथ्य यह भी है कि जिन घरों में इस तकनीक से शौचालय बने हैं, वहां स्त्रियां भी उनका इस्तेमाल करने लगी हैं। पहले घरों में शौचालय नहीं थे और वे मज़बूरन शौच के लिए बाहर जाया करती थीं। शौच के लिए बाहर जाने की मज़बूरी के दौर में उन्हें सूर्योदय और सूर्यास्त यानी अंधेरे की प्रतीक्षा करनी पड़ती थी। उस स्थिति में खुले आसमान के नीचे उनके लिए बेपर्दगी की शर्मनाक स्थिति तो थी ही, प्रतिष्ठा भी आहत होती ही थी।

सुलभ ने 'भुगतान और प्रयोग' के आधार पर सामुदायिक शौचालयों के निर्माण की व्यवस्था बाजारों, रेलवे स्टेशनों, बस स्टेशनों और मेले–ठेले और तीर्थ स्थलों जैसी लोगों के इकट्ठा होने वाली जगहों पर की है। उसका फ़ायदा यह है कि अब सड़कों के किनारों, रेल–पटरियों के आस–पास और गलियों आदि में शौच की वृत्ति ख़त्म हुई है। इस स्थिति में भी परदादारी की रक्षा हुई है। शौचकर्म मनुष्य की एक प्राकृतिक आवश्यकता है उसकी पूर्ति सम्मानजनक ढंग से हो जाती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मानवाधिकार और दलितों, औरतों और ख़ास तौर पर पुरूषों की मान–मर्यादा के बीच एक अन्तःसंबंध है। यह भी कि सुलभ उसे लेकर कितना

चिंतित है। हम ने यह भी देखा कि उसने किस तरह एक ऐसा समाधान प्रस्तुत किया जो मानवाधिकार की वापसी तथा मान–मर्यादा की रक्षा की दृष्टि से जीवन में कितना अहम माना गया।

तीसरे विश्व मानवाधिकार संगठनों ने मानवाधिकार संबंधी कार्यकलापों के लिए नए दृष्टिकोण प्रस्तुत किए हैं। सैद्धान्तिक भी और योजनात्मक भी। सैद्धान्तिक स्तर पर उन्होंने न केवल मानवाधिकारों बल्कि अमानवीय किस्म के गलत कामों पर ध्यान केंद्रित किया है–न सिर्फ़ मानवाधिकारों बल्कि मानव बने रहने के अधिकारों पर भी उन्होंने सरकारी उदासीनता से पैदा होने वाले मानवाधिकार हनन के मामलों को हाथ में लिया है। उन्होंने सिर्फ़ अधिकारों का एक न्यायशास्त्र बनाने की दिशा में काम किया है बल्कि मानवाधिकार हनन से पैदा होने वाली कड़वी सच्चाई, शर्मिंदगी और क्रोध को सामने ला रहे हैं। वे निरंतर यह संघर्ष कर रहे हैं कि मानवाधिकार सही अर्थों में सभी के लिए सुरक्षित रहें। यह भी कि इस तरह की सुरक्षा के सबसे बड़े और पहले हक़दार वाल्मीकि हैं।

अपनी बात ख़त्म करते हुए मैं कहना चाहूंगा कि एक स्थिति ऐसी थी जिसमें वाल्मीकियों को अपने मानवाधिकार और अपनी मान–मर्यादा को पाने की मनाही थी। उनके नागरिक और सामाजिक अधिकारों पर उनकी सामाजिक हैसियत का प्रतिकूल असर पड़ा था। एक उपयुक्त तकनीक के विकास के माध्यम से उनके लिए एक घिनौने काम से छुटकारा पाने के दरवाज़े खुले। उन्हें वैकल्पिक पेशों में रोज़गार मिला। अब उनके लिए पहले वाला गंदा काम करना ज़रूरी नहीं रहा। वास्तविकता तो यह है कि इस नयी तकनीक ने उसमें एक व्यावसायिक कोण जोड़ दिया है। यानी जिस काम को लोग गंदा काम समझते थे वह एक आर्थिक गतिविधि में बदल गया। उसकी तरफ़ सभी जातियों के लोग आकर्षित होने लगे। पहले जो कुछ निकृष्ट था, वह आकर्षक हो गया। मानवाधिकार की वापसी और मान–मर्यादा की रक्षा तो उसके पीछे–पीछे आई। इतिहास में पहले तकनीक ने सामाजिक सुधार की गति तेज़ की जबकि सुलभ ने रोशनी की दिशा खोली।

ध्यान रखिए वाल्मीकि समाज का सबसे आख़िर का वर्ग है। वही किसी भी समाज की उन्नति और प्रगति का वास्तविक पैमाना है। उसका परिचय देने की ज़रूरत नहीं है। हम सभी उसे जानते हैं लेकिन नाम लेने से परहेज करते हैं।

हम गर्व कर सकते हैं देश की औद्योगिक, वैज्ञानिक और आर्थिक प्रगति पर। लेकिन सिर पर मैला ढोने की प्रथा एक ऐसा सामाजिक अभिशाप है जो हमारी त्वचा के किसी अंश को रूग्ण और बदरंग करता है। ज़रूरत उसे छिपाने की नहीं उसे नष्ट करने की है।

भारतीय पुलिस प्रणाली में मानवाधिकारों की दृष्टि से व्यवस्थागत सुधार

डॉ. त्रिनाथ मिश्र

मानवाधिकार का सिद्धान्त विश्व–मानव–समाज के लिए बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध की सर्वाधिक महत्वपूर्ण उपलब्धि है। यद्यपि विभिन्न सस्कृतियों एवं विचारधाराओं में मानव की सर्वोपरि महत्ता की स्वीकृति रही है, किंतु समुदायगत स्वार्थ, धर्मांधता एवं चरम राष्ट्रवाद ने इस सिद्धान्त को अप्रासंगिक एवं गौण बना दिया था। भारतीय संस्कृति ने सिद्धान्तरूप में प्रत्येक मानव को ब्रह्मस्वरूप मानकर एवं "नहि मनुष्येतरं हि किंचित्" कह कर उसे सृष्टि की सर्वोच्च उपलब्धि की मान्यता दी है, किंतु सामाजिक रूढ़िवादिता, कट्टरवादिता एवं शताब्दियों की दासता एवं उपनिवेशवादिता ने हमारे समाज में इस अभीप्सित समता मूलक एवं संवेदनशील सिद्धान्त को व्यवहृत नहीं होने दिया। राष्ट्रवाद एवं साम्यवाद के विचारकों ने भी मानव को राष्ट्रहित एवं समाजहित के लिए एक उपयोगी उपकरण या वस्तु के रूप में प्रस्तुत किया । इन सबकी दृष्टि के अनुसार राष्ट्रहित या समाजहित के लिए मानव के भूलभूत अधिकारों की अवहेलना की जा सकती है । कई समुदायों में अभी भी मानव किसी उद्देश्य की संपूर्ति के उपादान के रूप में ग्राह्य है । यही कारण है कि समुदायों एवं संगठनों के अग्रणी अपने सदस्यों को "मानव–विस्फोटक" के रूप में व्यवहार करने से भी नहीं हिचकते ।

स्वतंत्रता उपलब्धि के साथ–साथ हमारे देश को विभाजन की विभीषिका का सामना करना पड़ा । कई वर्षों तक सांप्रदायिक तनाव तथा विस्थापितों के पुनर्वास की समस्या से जूझते रहने की व्यस्तता के कारण तत्कालीन राष्ट्रीय नेताओं एवं विधि–निर्माण कर्त्ताओं का ध्यान प्रशासनिक ढाँचे में, विशेष कर विधि–नियमन, व्यवस्था–नियंत्रण एवं आपराधिक–विधि प्रशासन, की ओर नहीं गया । फलस्वरूप इन प्रशासनिक तंत्रों का ढाँचा पूर्वतः उपनिवेशवादी ही बना रहा । इनमें वही अधिकारी एवं कार्मिक कार्यरत रहे, जो साम्राज्यवादी उपनिवेशवादी सत्ता के अधीन कार्यरत थे और जिनकी मानसिकता में यह कूट–कूट कर भरा हुआ था कि उनका मुख्य कार्य शासन एवं शासक वर्ग के हितों का संरक्षण है, न कि राष्ट्र के निवासियों के अधिकारों की अभिभावकता। स्वतंत्रता–प्राप्ति के परवर्ती दशकों में क्षेत्रीयता, सांप्रदायिकता एवं भाषागत–स्वार्थांधता के कारण विभिन्न भागों में विषम समस्याएँ समुपस्थित हुईं। नए केंद्रीय

एवं राज्यस्तरीय शासन एवं प्रशासन के समक्ष प्रमुख लक्ष्य बन गया – नए राष्ट्र की एकता एवं स्थायित्व को अक्षुण्ण बनाए रखना। इस कारण भारतीय संविधान के तृतीय भाग में मूलभूत मौलिक अधिकारों के प्रावधान के बावजूद जो मानवाधिकारों के प्रत्येक पक्ष की रक्षा हेतु पूर्णतः समर्थ हैं, व्यावहारिक स्तर पर इनकी अवहेलना होती रही । पिछले दशक में जब विश्वभर में मानवाधिकारों के संरक्षण एवं संवर्धन हेतु सघन प्रयास हुए तो इसकी अनुगूँज भारत में भी प्रतिध्वनित हुई और 1993 में पारित मानव अधिकार संरक्षण अधिनियम एवं तदंतर्गत राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग के द्वारा इस महत्वपूर्ण सिद्धान्त की पुनःस्थापना हमारे देश में हुई।

आज न ही शासन एवं प्रशासन वरन् संपूर्ण भारतीय समाज मानवाधिकारों के सिद्धान्त से परिचित हो चुका है । अत्यंत विपन्न वर्ग भी अब अपने इन अधिकारों के संरक्षण हेतु सतर्क एवं सजग हो गया है । अब आवश्यकता है, इस बीज अंकुरण एवं प्रस्फुटन के संरक्षण एवं संवर्धन की, ताकि यह एक विशाल तरूवर के रूप में विकसित होकर हमारे समाज को अपनी शीतल छाया दे सके ।

भारतीय पुलिस की इस कार्य में अत्यंत महत्त्वपूर्ण भूमिका है । यदि मानवाधिकारों की सुरक्षा को हम एक "यज्ञ" मानें तो भारतीय पुलिस को उसका "पुरोधा" कहना अतिशयोक्ति न होगी। जब भी किसी व्यक्ति, समुदाय या संगठन के किसी प्रामाणिक एवं वैधिक हित का अतिक्रमण होता है तो उसे जिस संगठन की सहायता की आवश्यकता पड़ती है, वह है पुलिस–संगठन। सामान्य आपराधिक घटनाओं जैसे चोरी या मारपीट से लेकर भीषण घटनाओं जैसे सांप्रदायिक दंगों या नैसर्गिक आपदाओं की स्थिति में, पुलिस की भूमिका प्राथमिक एवं सर्वाधिक महत्वपूर्ण रहती है । उसे दोनों पक्षों–मानवपक्षों, अपराधग्रस्त एवं अपराधकर्मी अथवा संदिग्ध व्यक्तियों से साबिक़ा पड़ता है; साथ–ही–साथ उस पर समाज, प्रचार–प्रसार माध्यम, शासन की नीतियों एवं बहुधा शासकीय दल की नीतियों एवं इसके नेताओं के निहित स्वार्थ का दवाब भी रहता है । इन परिस्थितियों में भी विवेकपूर्ण रूप से सभी पक्षों के मानवाधिकारों की सुरक्षा करते हुए वह अपना कार्य सुचारू एवं सफल रूप से संपादित कर सके, इसके लिए भारतीय पुलिस–प्रणाली में कतिपय व्यवस्थागत सुधारों को लागू करना आवश्यक होगा । संविधान के प्रावधानों के अनुसार भारतीय पुलिस एक राष्ट्र–स्तरीय संगठन नहीं है। चूँकि विधि एवं व्यवस्था का विषय "राज्य–सूची" का अंग है, अतः पुलिस संगठन भी मूलतः राज्य–स्तरीय है । अखिल भारतीय सेवा संवर्ग का एक अंग होने के कारण भारतीय पुलिस सेवा के अधिकारी विभिन्न राज्यों एवं केंद्रीय पुलिस संगठनों में कार्य करते हैं, जिसके कारण यह प्रतीत होता है कि भारतीय पुलिस नाम का कोई संगठन हमारे देश में है । वस्तुतः यह सही स्थिति नहीं है, पुलिस संगठन मूलतः राज्य स्तरीय पुलिस संगठन है, जो केंद्रीय पुलिस बल हैं, वे विशिष्ट निर्दिष्ट कार्यों, जैसे सीमा–सुरक्षा अथवा कठिन परिस्थितियों एवं विधि व्यवस्था को सुचारू रूप से बनाए रखने के लिए राज्य सरकार की पुलिस को सहायता का कार्य करती हैं। विधि व्यवस्था उनके मौलिक कर्त्तव्य नहीं हैं ।

राज्य–स्तरीय पुलिस संगठन वहाँ की कार्यपालिका (एक्ज़ेक्यूटिव) का एक अंग होता है। उसके कार्यों का संचालन एवं संपादन यद्यपि पुलिस अधिकारी एवं कार्मिक करते हैं, किंतु

नीति–निर्धारण, निर्देशन एवं आकलन का कार्य राज्य सरकार – सही अर्थों में शासनारूढ़ राजनैतिक दल करती है । इस कारण भारतीय राज्य स्तरीय पुलिस संगठन अन्य विकसित देशों के पुलिस संगठनों के विपरीत न तो जन पुलिस की छवि रखती है और न ही न्याय प्रक्रिया की एक कड़ी की।

इन पुलिस संगठनों पर मानवाधिकार के परिप्रेक्ष्य में, दो दायित्वों के सफल निर्वहन की ज़िम्मेदारी है : स्वयं अपने नियमित कार्यकलापों में मानवाधिकारों का आदर करना, उनका कदापि उल्लंघन न करना तथा अपने कार्य–क्षेत्र में सभी व्यक्ति अपने मानवाधिकारों का समुचित उपभोग कर सकें, कोई शासकीय या अशासकीय व्यक्ति अथवा संगठन उन्हें इनसे वंचित न करे, ऐसा वातावरण बनाना ।

इन दोनों दायित्वों को सही तौर पर निभाने के लिए प्रथम आवश्यक सुधार होगा – पुलिस उप–संस्कृति एवं मानसिकता में क्रांतिकारी परिवर्तन लाना । पूर्वतः उल्लिखित किया जा चुका है कि ऐतिहासिक कारणों से पुलिस उप–संस्कृति में स्वतंत्रता एवं संवैधानिक शासन–व्यवस्था के बावजूद अपेक्षित परिवर्तन नहीं आया । येनकेन प्रकारेण शासन व्यवस्था को सुदृढ़ता एवं स्थायित्व प्रदान करना ही पुलिस संगठन का मूल लक्ष्य रहा है, अतः इस परिस्थिति में व्यवस्थागत परिवर्तन लाने की वरीयता सर्वोच्च होगी ।

भारतीय पुलिस संगठन आदेश एवं नियंत्रण (कमांड एंड कंट्रोल) के सिद्धान्त पर सुगठित है। सामान्यतः उच्चस्थ अधिकारी जो नीति निर्देश अथवा आदेश देते हैं, उसका पालन बिना परीक्षण अथवा विश्लेषण के अनुवर्ती कार्मिक किया करते हैं। ऐसे संगठनों में उच्च पदाधिकारियों की मानसिकता, उनकी प्राथमिकताएँ एवं उनका स्व–आचरण अत्यंत महत्त्वपूर्ण हो जाता है। गीता की सूक्ति कि श्रेष्ठजन जैसा आचरण करते हैं, अन्य तदनुसार उसका अनुकरण एवं अनुसरण करते हैं, पुलिस संगठन के संबंध में पूर्णतः सार्थक है । यदि नेतृत्व मानवाधिकारों के संरक्षण के प्रति समर्पित होगा तो उसके अंतर्गत कार्यरत कार्मिक भी इस दायित्व के प्रति सजग, सतर्क एवं क्रियाशील रहेंगे । यदि उसकी मानसिकता यह रही कि शासनारूढ़ दल के हित संवर्धन एवं अपनी पदासीनता की संरक्षा हेतु कुछ भी करना विहित है अथवा कार्य–पद्धति की शुचिता एवं शुद्धता, उसकी वैधानिकता एवं वैधता कार्य–सिद्धि के समक्ष गौण हैं तो उसके अधीनस्थ कार्मिक भी मानवाधिकारों की उपेक्षा करते हुए किसी भी तरीके से लक्ष्य–प्राप्ति के लिए चेष्टारत होंगे। नेतृत्व वर्ग की मानसिकता एवं विचारधारा पुलिस संगठन में एक उप–संस्कृति का आविर्भाव करती है। यदि यह उप–संस्कृति ऊपर उल्लिखित द्वितीय वर्ग – मानवाधिकारों के उपेक्षा करने वाली की हुई हो तो शासनारूढ़ राजनैतिक दल के विरोधियों के उत्पीड़न, उनके एवं अन्य इस दल से असंबद्ध व्यक्तियों के साथ दुर्व्यवहार, प्रताड़ना, अभिरक्षा में हिंसा की घटनाएँ अबाधित रूप से होती रहेंगी और "मानवाधिकार" मात्र विधि की पुस्तकों में उल्लिखित एक शब्द के रूप में रह जाएगा।

अतः पुलिस संगठन के नेतृत्व वर्ग का सही चयन, सही पदस्थापन एवं उनकी सेवा की समुचित अवधि का निर्धारण पुलिस प्रणाली के व्यवस्थागत सुधारों के क्रम में प्रथम स्थान

रखेगा । एक अनुकरणीय एवं सफल उदाहरण सभी राज्य संगठनों के समक्ष उपलब्ध है। सर्वोच्च न्यायालय के आदेशानुसार अब केंद्रीय अन्वेषण ब्यूरो के निदेशक के चयन की प्रक्रिया निश्चित कर दी गई है और उसकी सेवा अवधि भी निम्नतम दो वर्षों के लिए निश्चित कर दी गई है । इससे इस संगठन को अपने कार्यों के संपादन के क्षेत्र में परिसीमित स्वायत्तता प्राप्त हुई है और इसमें उत्तरदायित्व की भावना भी गुरूतर हुई है ।

यदि राज्य पुलिस संगठन भी इस ओर पहल करें एवं इसके अनुरूप उच्चस्थ अधिकारियों के चयन एवं सेवा अवधि के निर्धारण की प्रक्रिया तय करें तो यह पुलिस संगठनों को एक परिसीमित स्वायत्तता प्रदान कर सकेगी । इस ओर 1977 के धर्मवीर पुलिस आयोग ने जो संस्तुतियाँ की थीं, वे अब भी प्रासंगिक हैं। यह विस्मय एवं दुःख का विषय है कि पच्चीस वर्षों में भी इस ओर राज्य–सरकारों ने कोई कदम नहीं उठाया है । इन संस्तुतियों में मुख्यतः दो बातों पर बल दिया गया था – शीर्षस्थ पुलिस अधिकारियों के चयन की एक पारदर्शी एवं मानव प्रक्रिया की व्यवस्था एवं उनकी एक पद पर सेवा–अवधि का नियतन। बिना इन दोनों शर्तों के कोई भी संगठन कैसे समुचित एवं उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य कर सकेगा, यह कल्पना करना कठिन है। यदि बिना निर्दिष्ट एवं उल्लिखित स्पष्ट कारणों के पुलिस अधिकारियों का स्थानांतरण एवं निलंबन होगा तो वे अपने दायित्व का निर्वहन करने में कभी भी सक्षम हो सकेंगे, यह एक विचारणीय प्रश्न है । यद्यपि केंद्र सरकार ने कई बार राज्य सरकारों से इन संस्तुतियों को लागू करने के लिए आग्रह किया, किंतु इसे राज्य सरकार के अधिकार क्षेत्र में केंद्र की अनधिकार हस्तक्षेप की चेष्टा मानकर राज्य सरकारों ने सदैव उपेक्षा की है। स्वायतत्ता न होने के कारण सत्ता–परिवर्तन के साथ–साथ राज्य–पुलिस की नीति, मानसिकता एवं कार्य प्रणाली में बहुत फेर–बदल होता रहता है। प्रेस एवं अन्य प्रसार–माध्यम तथा राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग इस कार्य बिंदु को आलोकित करें, ताकि मानवाधिकार संरक्षण के परिप्रेक्ष्य में इस विषय पर राज्य सरकार पहल कर सके, इसकी बड़ी ज़रूरत है।

पुलिसजनों की भर्ती की चयन प्रक्रिया में समयानुसार परिवर्तन, व्यवस्थागत सुधारक्रम की दूसरी महत्वपूर्ण कड़ी होगी । अभी तक सामान्य परिवर्तनों के साथ पुरानी चयन–प्रक्रिया ही चल रही है, जिसमें शारीरिक गठन एवं क्षमता पर अधिक जोर है, व्यावसायिक कौशल अथवा संबद्ध विषयों के ज्ञान पर नहीं । सशस्त्र–पुलिस–बल के संगठनों के संदर्भ में तो यह प्रक्रिया किसी हद तक सार्थक मानी जा सकती है, किंतु नागरिक पुलिस संवर्ग के संदर्भ में– जिनसे जनसाधारण का संपर्क सर्वाधिक होता है और जिनके ऊपर मानवाधिकारों के संरक्षण का दायित्व प्राथमिक रूप से रहता है, यह प्रक्रिया अनावश्यक रूप से बल–तत्व पर जोर डालती है । हर कठिनाई या समस्या का समाधान बल प्रयोग द्वारा संभव है, इस मानसिकता का सूत्रपात पुलिसकर्मी के चयन के साथ ही प्रारंभ हो जाता है । इसी की परिणति बाद में "डंडा–राज" के रूप में होती है । सामान्य नागरिक को यह जानकर विस्मय होगा कि नागरिक–पुलिस के उप–निरीक्षक संवर्ग और इसके उच्चतर संवर्गों के अधिकारियों, जिन पर आपराधिक अभियोगों के अनुसंधान एवं पर्यवेक्षण की ज़िम्मेदारी होती है, के चयन हेतु

विधि एवं विधि–विज्ञान के विषयों में प्रवीणता उनके चयन के लिए अनिवार्य नहीं है; मात्र प्रशिक्षण के समय इन विषयों का सामान्य ज्ञान उन्हें दिया जाता है। इन्हीं अधिकारियों की विवेचनाओं का परीक्षण एवं विश्लेषण न्यायालय में न्यायवेत्तागण करते हैं। इन दोनों वर्गों के मध्य विद्यमान वर्तमान खाई के कारण आपराधिक अभियोगों की सफलता वर्षानुवर्ष न्यूनतर होती जा रही है । व्यावसायिक कौशल एवं ज्ञान की कमी के कारण इन पुलिस कर्मियों में पुराने तौर–तरीकों–डंडाबाज़ी और थर्ड–डिग्री का सहारा लेने की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है।

अतः आवश्यकता होगी कि पुलिस कर्म संबंधी विधि–विज्ञान का ज्ञान एवं तत्संबंधी कौशल में अपेक्षित प्रवीणता पुलिसजनों–कम से कम नागरिक पुलिस संवर्ग के चयन के लिए अनिवार्य कर दिया जाए । इस प्रावधान के फलस्वरूप विभिन्न शिक्षण संस्थानों में इन विषयों का पाठ्यक्रम उपलबध होगा । जिस प्रकार अन्य व्यवसाय के व्यक्ति – इंजीनियर, डॉक्टर या संगीतज्ञ, अपने व्यवसाय संबंधी ज्ञान एवं कौशल का ज्ञान प्राप्त कर अपने आप को उस कर्म के योग्य बनाते हैं, उसी प्रकार पुलिसकर्म के लिए अभिरूचि रखने वाले व्यक्ति इन पाठ्यक्रमों का अध्ययन कर अपने आपको एक कुशल एवं योग्य पुलिसकर्मी बनाने के उपक्रम का प्रारंभ कर सकेंगे । इस प्रक्रिया द्वारा चयनित पुलिसकर्मी अपने विषयों का समुचित ज्ञान रखेगा, संबद्ध कौशलों में गति रखेगा और उसे इस बात का आत्मविश्वास होगा कि वह अपने ज्ञान एवं कौशल के द्वारा अभियोगों की विवेचना सफलतापूर्वक कर सकता है। ऐसे कुशल एवं योग्य पुलिस अधिकारी से यह अपेक्षा की जा सकेगी कि वह विधि–विरूद्ध हथकंडों का उपयोग अपने कार्य सिद्धि हेतु न करे ।

यद्यपि चयन–प्रक्रिया में इस परिवर्तन की आवश्यकता प्रत्येक स्तर पर अपेक्षित होगी, किंतु प्रारंभ में उपनिरीक्षक एवं उससे उच्चस्तरीय अधिकारियों के लिए इसका किया जाना व्यावहारिक होगा । यह परिवर्तन मात्र एक राज्यादेश के माध्यम से किया जा सकता है, कोई क़ानूनी अड़चन इसमें आड़े नहीं आएगी ।

चयन प्रक्रिया में सभी संवर्गों के लिए एक अन्य परीक्षण का समावेश भी आवश्यक होगा – अभ्यार्थियों की मानसिक स्थिति का मनोवैज्ञानिक परीक्षण । पुलिसजनों को विषम परिस्थितियों में अपना कार्य संपादित करना पड़ता है । इन परिस्थितियों में यदि उसका व्यक्तित्व मानसिक रूप से संतुलित न हुआ और उसमें धैर्य एवं कष्टग्रस्त व्यक्तियों के प्रति संवेदना का अभाव प्रकृत रूप से रहा तो उसके आचरण के असंतुलित अथवा आक्रामक होने की पूर्ण आशंका होगी । बहुधा देखा गया है कि समरूप परिस्थितियों में एक विवेकपूर्ण एवं धैर्यवान पुलिस अधिकारी समुचित–समाधान ढूँढ़ निकालता है और एक धैर्यहीन अथवा किन्हीं कारणों से मानसिक विकृतियों से ग्रस्त पुलिसकर्मी अनावश्यक बल प्रयोग कर दूसरों को उनके मानवाधिकारों से वंचित कर देता है और प्रताड़ित करता है। शनैः–शनैः यह परपीड़न उसे आनंद की अनुभूति देने लगता है । पुलिस अभिरक्षा में दी जाने वाली यातनाएँ या प्रताड़नाएँ बहुधा इस परपीड़नजन्य आनंदानुभूति (सैडिज़्म) के कारण होती हैं। इस विभीषिका के परिमार्जन के लिए चयन प्रक्रिया में अभ्यर्थियों के मनोवैज्ञानिक परीक्षण की आवश्यकता अनिवार्य होगी।

प्रशिक्षण क्रम में भी इसी प्रकार व्यवस्थागत सुधार की आवश्यकता है । आज पुलिसजनों

का प्रशिक्षण कार्यक्रम, विशेषतौर पर बहिरंग प्रशिक्षण–कार्यक्रम पदाति सेना प्रशिक्षण के अनुरूप (इंफ्रैन्ट्री–मॉडेल) निर्धारित किया गया है, जिसमें आदेशपालन पर पूर्ण ध्यान केंद्रित किया जाता है। आदेश कैसा भी हो, उसका समीचीन विश्लेषण किए बग़ैर उसका अनुपालन सैन्यकर्म के लिए आवश्यक हो सकता है, किंतु विधिसम्मत कार्य हेतु यह पद्धति सदैव कल्याणकारी हो, यह अनिवार्य नहीं। सैन्य प्रशिक्षण पद्धति शत्रु के आक्रमण को विफल करने तथा उस पर आक्रमण कर उसे पूर्णतः बर्बाद करने के लक्ष्य की संपूर्ति के लिए बनाई जाती है । पुलिसकर्मियों से अपेक्षित है कि वे अपने देश के नागरिकों के कार्य–कलापों को विधि–सम्मत तरीकों से नियंत्रित करें। शासन के विरूद्ध कई कारणों से विरोधी राजनैतिक दल अथवा अन्य नागरिक संगठन आंदोलन किया करते हैं । इन कार्यक्रमों के दौरान कई बार वे विधि–सम्मत प्रतिबंधों का अतिक्रमण करते हैं । तात्कालिक प्रतिषेध–संबंधी क़ानून का उल्लंघन तो होता है, किंतु इसको सर्वथा विधिविहीन एवं अधिकारहीन कहना समीचीन नहीं होगा, क्योंकि संविधान के अनुसार विचार–अभिव्यक्ति का मौलिक आधार उन्हें है। ऐसी परिस्थिति में उन्हें नियंत्रित करना पुलिस का कर्त्तव्य बनता है और यदि वे विधि–सम्मत प्रतिबंधों का उल्लंघन करते हैं तो उनके विरूद्ध बल–प्रयोग करना भी पुलिस का कर्त्तव्य बनेगा, किंतु उन्हें शत्रुभाव से देखना तथा सैन्यानुरूप उनके विरूद्ध बल प्रयोग करना न तो उनकी नीति के अनुरूप होगा और न ही कर्त्तव्य के । सैन्य प्रक्रिया में अधिकतम बल के व्यवहार की व्यवस्था है और पुलिस–प्रक्रिया में न्यूनतम, मात्र आवश्यक बल के प्रयोग की । वर्तमान बहिरंग पाठ्यक्रम में सैन्य प्रक्रिया आधारित पाठ्यक्रम उसे अपेक्षित दिशा के विपरीत उन्मुख करता है, अतः आवश्यक है कि इसमें परिवर्तन किया जाए ।

भारतीय पुलिस संगठन पुरूष संगठन हैं । यद्यपि भारतीय पुलिस सेवा एवं अन्य संवर्गों में कुछ महिलाएँ भर्ती हुई हैं, किंतु उनकी संख्या नगण्य–सी है । चयन प्रणाली में व्यवस्थागत सुधारकर इस असंतुलित ढाँचे को संतुलित करना होगा । नागरिक पुलिस में कम से कम पचास फ़ीसदी पुलिसकर्मियों के लिए महिलाओं का चयन किया जाना चाहिए। राज्य पुलिस के बलों के सशस्त्र तथा केंद्रीय पुलिस बलों में भी आनुपातिक वृद्धि आवश्यक होगी । इस प्रक्रिया के द्वारा इन संगठनों को अधिक सहानुभूतिशील, संवेदनशील एवं विनयशील बनाया जा सकेगा।

प्रशिक्षण कार्यक्रम में मानवाधिकारों के प्रति पुलिस के सकारात्मक दायित्व से संबद्ध विशेष पाठ्यक्रम सामग्री का समावेश करना आवश्यक होगा। इसी के द्वारा पुलिस–संगठन को गतिशील एवं परिवर्तनशील बनाया जा सकेगा । यद्यपि लगभग सभी पुलिस संगठनों में मानवाधिकारों से संबंधित विषय पाठ्यक्रम में सम्मिलित कर दिए गए हैं, किंतु अभी भी प्रशिक्षण के दौरान पुरातन रूढ़िवादी पुलिस कार्यशैली के प्रति आग्रह बना हुआ है । आवश्यकता है कि विश्वव्यापी विचारधारा के अनुरूप मानवाधिकारों की संरक्षा के लिए प्रशिक्षणार्थियों के हृदय एवं मानस में प्रतिबद्धता उत्पन्न करना, न कि सिर्फ़ मानव अधिकार आयोग अथवा इससे संबद्ध क़ानून की चपेट से बचने के लिए इनकी जानकारी हासिल करना । इस विषय में गहन प्रशिक्षण पुलिस के सभी सवंर्गों को उनके दैनिक सामान्य कार्य–क्षेत्र एवं गतिविधियों के परिप्रेक्ष्य

में देना चाहिए। यह पाठ्यक्रम नागरिक पुलिस के लिए जितना प्रासंगिक होगा, उतना ही पुलिस के सशस्त्र बलों के लिए भी। आतंकवाद ग्रस्त क्षेत्रों में आतंकवादी सशस्त्र तत्वों से निबटते समय अत्यन्त दुष्कर एवं कठिन परिस्थितियों में भी किस प्रकार सभी संलग्न पक्षों के मानवाधिकारों की संरक्षा की जा सकती है, इसका प्रशिक्षण इन बलों के लिए अत्यंत प्रासंगिक एवं लाभजनक होगा। सामान्यतः यह मान लिया जाता है कि आतंकवाद या उग्रवाद से ग्रस्त क्षेत्रों में सशस्त्र आतंकवादियों का सामना करते समय मानवाधिकार का सिद्धान्त अप्रासंगिक और निरर्थक है। राष्ट्र की अखंडता एवं सामान्य शांति हेतु कोई भी उपाय–विधि सम्मत अथवा असम्मत'– जो कारगर साबित हो, व्यवहार में लाई जा सकती है। यह विचारधारा दृढ़तर रूप तब ले लेती है, जब पुलिस बलों के सदस्यों की हत्या आतंकवादी धोखे से कर डालते हैं और पुलिस को यह संदेह होता है कि स्थानीय जनता संदिग्ध आतंकवादियों के साथ उनके विरूद्ध किए गए षडयंत्र में सम्मिलित है अथवा उन्हें प्रश्रय एवं सहायता प्रदान करती है। यह सर्वविदित है कि उग्रवाद, अलगाववाद एवं आतंकवाद पर विजय पाने के पूर्व इस विभीषिका से ग्रस्त क्षेत्र की जनता के "हृदय एवं मानस" (हार्ट एवं माइंड) पर सुरक्षा बलों तथा शासन द्वारा विजय प्राप्त करना नितांत आवश्यक है । यदि यह उपलब्धि प्राप्त नहीं हो सकी तो प्रताड़ना अथवा भय के द्वारा समस्या का निराकरण नहीं किया जा सकेगा। मानवाधिकारों – जनसाधारण तथा संदिग्ध आतंकवादियों एवं उनके प्रश्रयकर्त्ताओं का भी– की संरक्षा उनके हृदय एवं मानस में शासन के प्रति एक विश्वास का भाव उत्पन्न करेगी, जो इस विषम समस्या के समाधान का आधार बन सकेगा । अतः यह आवश्यक है कि पुलिस सशस्त्र बलों के सभी कार्मिकों का प्रशिक्षण इस संदर्भ में किया जाए ।

प्रशिक्षणक्रम में कमज़ोर, दलित, शोषित वर्गों के प्रति संवेदनशीलता एवं सहानुभूति उत्पन्न करने की भी पूरी कोशिश की जानी चाहिए। इन वर्गों को ही पुलिस के संरक्षण की सर्वाधिक आवश्यकता रहती है । विडंबना यह है कि यही वर्ग कारणवश या अकारण पुलिस से सर्वाधिक प्रताड़ित होता रहा है । यदि पुलिस अभिरक्षा में मृत्यु की घटनाओं का विश्लेषण किया जाए तो यह बात पूर्णतः सिद्ध हो जाती है। एकाध अपवाद को छोड़ कर लगभग सभी मृतक इसी वर्ग के होते हैं ।

महिलाओं के मानवाधिकारों की संरक्षा का प्रशिक्षण भी अत्यंत आवश्यक है। तमाम शिक्षा एवं प्रगति के बावजूद विश्वभर में सामाजिक रूढ़िवादिता एवं आधुनिकता की कमी के कारण विशेष तौर पर हमारे देश में समाज पर पुरूषों का वर्चस्व रहा है । इस कारण एक ऐसा वातावरण बन गया है, जिसमें महिलाओं के साथ भेदभाव का व्यवहार उनके जन्मकाल से ही किया जाता है । इसी मानसिकता के कारण यौन शोषण, पुत्रवधुओं का उत्पीड़न, दहेज हत्या या आत्महत्या हेतु अभिप्रेरण की घटनाएँ होती हैं । पुलिस वर्ग भी इस मानसिकता से अछूता नहीं रहा है । पुलिस थानों में अथवा अभिरक्षा में यौन शोषण एवं बलात्कार की घटनाएँ प्रकाश में आती रहती हैं । जब तक महिलाओं – हमारे देश की लगभग आधी जनसंख्या– के मानवाधिकारों की संरक्षा नहीं होती, इस ओर की गई कोई भी प्रगति अधूरी ही रह जाएगी। अतः प्रशिक्षण सत्र में इस महत्त्वपूर्ण विषय पर सघन प्रशिक्षण देना आवश्यक होगा ।

पुलिसकर्मियों द्वारा मानवाधिकारों के अतिक्रमण का एक प्रमुख कारण है, एक पुलिस अधिकारी पर एक ही समयावधि में विभिन्न प्रकार के बहुत से कर्त्तव्यों के निर्वहन का दायित्व एवं एतदर्थ उसकी चेष्टा । अधिकतर भारतीय पुलिस संगठनों में एक ही अधिकारी विवेचना भी करता है, शांति–व्यवस्था भी सँभालता है, महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों की सुरक्षा का कार्य भी करता है, यातायात–प्रबंधन भी करता है, न्यायालय में अभियोगों से संबंधित पैरवी भी करता है, अपने अधीनस्थ कर्मचारियों के कार्यों का पर्यवेक्षण करता है तथा उनके एवं उनके परिवार के कल्याण की व्यवस्था भी करता है। "पीर–बावर्ची–भिश्ती–खर" की कहावत उस पर शब्दशः चरितार्थ होती है ।

इस दशा में उसे किसी भी कार्य को सुप्रबंधित रूप से करने के लिए समय नहीं मिल पाता है । परिवारजनों के साथ सहज रूप से जीवन–यापन न करने के कारण उसके मानस में मानसिक विकृतियों की गांठ पड़ जाती है । इन कारणों से उसका व्यक्तित्व एक तनावग्रस्त, परिस्थितियों से विचलित, जल्दबाज़ व्यक्ति का बन जाता है। धैर्य, सहिष्णुता, संवेदनशीलता, विवेकपूर्ण विचारशीलता – मानवोचित सहज मूल्यों का क्रमशः उसमें ह्रास होने लगता है। ज़ाहिर है ऐसे कुण्ठित व्यक्तित्व वाले अधिकारी से दूसरों के मानवाधिकारों की सुरक्षा की अपेक्षा कितनी समुचित होगी ।

इस समस्या के समाधानों की विस्तृत चर्चा 1977 के राष्ट्रीय पुलिस आयोग ने एवं विभिन्न राज्यों द्वारा गठित पुलिस आयोगों ने विस्तारपूर्वक की है। उन्होंने इसके निदान हेतु अनुसंधान एवं शांति व्यवस्था प्रबंधन, इन दो प्रमुख पुलिस–कर्मों के लिए पुलिस को दो वर्गों में पुनर्संगठित करने की संस्तुति की है। आंशिक रूप से – अल्प अंश में, कई राज्यों में इसके कार्यान्वयन की पहल भी की गई है। आवश्यकता है कि सभी राज्यों के पुलिस संगठनों में इसे समरूप से कार्यान्वित किया जाए ।

इस समस्या के समाधान का दूसरा विकल्प है, पुलिस के कार्यकारी अनुभागों जैसे थाना, चौकी आदि में पाली पद्धति (शिफ्ट–सिस्टम) लागू करना । आज की ज़िंदगी की तेज़ रफ़्तार तथा देहातों, कस्बों में एवं छोटे नगरों में भी महानगरों की भाँति चौबीस घंटों के कारोबार की स्थिति में यह कल्पना करना भी कठिन है कि एक ही पुलिसकर्मी दिनानुदिन लगातार सतर्क रूप से कार्यरत रह सकेगा। कुछ समय के उपरांत मात्र कार्यक्षमता में ही ह्रास नहीं आएगा, उसकी मानसिकता भी विकृत होने लगेगी, जिसका प्रभाव उसके आचरण में परिलक्षित होने लगेगा। दिल्ली प्रभृति महानगरों में इसकी शुरूआत हो चुकी है और इसका अच्छा परिणाम भी सामने आया है, किंतु सामान्य रूप से अभी इसका कार्यान्वयन नहीं हो पाया है। राज्य सरकारें मुख्यतः आर्थिक कारणों से अपनी असमर्थता प्रगट करती रही हैं। कम–से–कम सभी महानगरों में तो इसे तुरंत लागू करने की आवश्यकता है।

अनुसंधान तथा शांति व्यवस्था प्रबंधन दोनों क्षेत्रों में पुलिस तंत्र को आधुनिक एवं सक्षम संसाधन प्रदान करने की भी अत्यंत आवश्यकता है। देहाती एवं कस्बाई थानों में चरण रखते ही किसी आगंतुक को ऐसा लगता है कि मानों वह किसी मध्यकालीन खंडहर में पहुँच गया है । पुलिस भवन, कार्यालय, उनके आवागमन एवं संचार के साधन, पुलिसजन एवं उनके

परिवारजनों के आवास, विवेचना के साधन एवं उपादान तथा भीड़ नियंत्रण एवं तत्संबंधी अन्य समस्याओं के समाधान के लिए जो साधन हैं, वे अपर्याप्त, पुराने एवं अपेक्षाकृत क्षमताहीन हैं। संसाधनों की कमी के कारण पुलिस विवेचना की सही प्रक्रिया, अपराध स्थल पर प्राप्य एवं अपराध से संबद्ध सूत्रों के सहारे संदिग्ध या अभियुक्त तक पहुँचना, के स्थान पर एक "शार्ट–कट" का अवलंब लेती है – संभावित संदिग्धों के जरिए अपराध तक पहुँचने का। विधिविज्ञान संबंधी संसाधनों की कमी के कारण उपलब्ध भौतिक साक्ष्यों के परीक्षण में, जिनके आधार पर अपराधी के संबंध में सटीक सूत्र हासिल करने की संभावना होती है, साधारण भौतिक साक्ष्य जैसे रक्त, वीर्य, वमन आदि की रासायनिक परीक्षा में भी बहुत अधिक समय लगता है । इस बीच समाज, प्रेस मीडिया तथा शासन का अत्यधिक ज़ोर पुलिस पर मामले का पर्दाफ़ाश करने के लिए पड़ता है । टी.वी. के स्थानीय, राज्यस्तरीय एवं राष्ट्रीय समाचार चैनलों ने इस दवाब को और अधिक गहरा बना दिया है। इस दबाव के कारण पुलिस सहज मार्ग से हटकर मात्र संदेह के आधार पर अनुसंधान कार्य करने लगती है। चूँकि संदेह का आधार व्यक्तिगत धारणाओं, पुराने दस्तावेज़ों एवं मौखिक सूत्रों का होता है, अतः इसकी चपेट में बहुत–से ऐसे लोग भी आ जाते हैं, जिनका प्रस्तुत अपराध से कोई संबंध नहीं होता है। इस प्रक्रिया के कारण इन व्यक्तियों के मानवाधिकारों की रक्षा नहीं हो पाती है। अतः यह आवश्यक है कि कार्य संपादन के लिए आवश्यक संसाधन एक समयबद्ध सारणी के मुताबिक पुलिस को उपलब्ध कराए जाएँ । भारत सरकार ने आधुनिकीकरण के क्षेत्र में पहल तो की है, किंतु राज्य सरकार की आंशिक देनदारी की शर्त के कारण इसका पूर्ण उपयोग अभी हो नहीं हो पा रहा है । भीड़ प्रबंधन के कार्य में भी आधुनिक संसाधनों की आपूर्ति की नितांत आवश्यकता है । आज भी अधिकांश पुलिस संगठनों के पास भीड़ नियंत्रण के तीन ही मुख्य उपाय हैं– लाठी, अश्रु गैस एवं गोली । लाठी चार्ज में बहुधा यह पाया गया है कि भीड़ के आक्रामक तत्व तो इधर–उधर भाग जाते हैं, मात्र कम या अधिक उम्र के लोग– जो भाग नहीं पाते या तमाशबीन, आस–पास के दुकानदार आदि पिट जाते हैं।

अश्रु गैस भीड़ को कम प्रभावित करती है और आस–पास के निवासियों को अधिक, यही कारण है कि विकसित देशों में पुलिस अब अश्रु गैस का व्यवहार नहीं करती है। गोली भी हमारे देश में बड़े परिमाण (कैलिबर) की जैसे 303 या 7.67 मि.मी. की इस्तेमाल की जाती है। यदि शरीर के किसी अंग में यह गोली लग जाए तो स्वाभाविक परिणाम मृत्यु होगी। अगर बच गया तो भी अपंगता का शिकार होगा । अब विश्व में कई कारगर एवं कम घातक समाधान उपलब्ध हैं जैसे वाटर–कैनन (तेज़ी से पानी की बौछार मारने वाली तोप), शॉक–बेटन (हल्की बिजली का झटका देने वाली छड़ी), फोम–गन (सतह के अत्यन्त चिकना करने वाला झाग फेंकने वाला सयंत्र) आदि। इनमें से कुछ का व्यवहार महानगरों में हो रहा है, किंतु देश के अधिकांश भागों में नहीं । इस ओर तुरंत कार्रवाई करने की आवश्यकता है । इससे कई लाभ होंगे । नागरिकों की क्षति में तो कमी आएगी ही, पुलिस की सैन्यानुकृत आक्रामकता में भी कमी आएगी और उसकी सामान्य छवि–शासन द्वारा प्रचालित प्रताड़ना प्रदान करने वाले बल, के स्थान पर भीड़ को सही तौर पर नियंत्रण करने वाले बल के रूप में उभरेगी ।

मानवाधिकारों के संरक्षण के लिए अत्यन्त आवश्यक है, वर्तमान पुलिस प्रणाली में अपराधग्रस्त व्यक्तियों की सहायता हेतु व्यवस्था का प्रावधान करना (विक्टिम सपोर्ट सिस्टम)। हमारे देश में इस ओर विधायिका और कार्यपालिका का ध्यान बहुत कम गया है। यद्यपि कुछ प्रसंगों में एतदर्थ क़ानून बने हैं, लेकिन न तो इसका सम्यक ज्ञान पुलिसजनों को है और न ही जन–साधारण को। फलस्वरूप अपराध के शिकार व्यक्ति एवं उसके परिवार वालों को समय पर कोई मदद नहीं मिल पाती है । एक साधारण एवं प्रतिदिन घटित होने वाली घटना का उदाहरण इसे स्पष्ट कर देगा ।

मोटर दुर्घटना में एक मज़दूर की मृत्यु हो जाती है । चूँकि अपने परिवार के भरण–पोषण का वही एकमात्र स्रोत होता है, अतः उसकी मृत्यु का तात्कालिक प्रभाव यह पड़ता है कि उसका परिवार रोटियों के लिए मुहताज बन जाता है । संस्कारवश, जब तक अंतिम संस्कार न हो जाए, वे अन्य कार्य कर नहीं सकते । परिवार के सदस्य उसके शवदाह आदि कार्यों में व्यस्त हो जाते हैं। इसका ख़र्च भी परिवार पर अतिरिक्त वित्तीय भार डालता है। यद्यपि क़ानूनन वे मुआवजा के हक़दार बनते हैं, किंतु इसके लिए उन्हें संबद्ध न्यायपीठ में चाराजोई करनी पड़ती है । जब भरण–पोषण के ही साधन उनके पास नहीं हैं तो वे वकील एवं न्याय–प्रक्रिया से संबद्ध अन्य व्यय के लिए कहाँ से धन जुटाएँगे ? प्राकृतिक आपदाओं के समय अथवा बड़ी दुर्घटनाओं, जैसे रेल दुर्घटना के समय यह स्थिति अत्यन्त गंभीर हो जाती है। आपराधिक मामलों में घायल व्यक्तियों का प्राथमिक मेडिकल जाँच तो पुलिस करा देती है, किंतु यह जाँच वह अनुसंधान की दृष्टि से कराती है, उपचार की दृष्टि से नहीं । इसके लिए उसके पास पर्याप्त बजट भी नहीं होता है ।

इन सब का प्रभाव संबद्ध व्यक्तियों के मूलभूत मानवाधिकार – जीवन के अधिकार पर, सीधा पड़ता है । अतः आवश्यक होगा कि इस ओर सरल प्रक्रिया वाले क़ानून बनाए जाएँ तथा पुलिस तंत्र में यह व्यवस्था की जाए कि पुलिस ऐसे व्यक्तियों की सहायता तात्कालिक रूप से कर सके।

इन प्रक्रियाओं का लाभ वे किस प्रकार सहज प्राप्त कर सकते हैं, इसकी जानकारी देने के लिए व्यापक व्यवस्था की भी आवश्यकता है । विकसित देशों में यह व्यवस्था है कि हर थाने–चौकी में इन क़ानूनी प्रावधानों एवं प्रक्रियाओं की सूचना देने वाले पोस्टर एवं पैंफलेट उपलब्ध रहते हैं । ग्रेट ब्रिटेन में, जहाँ विभिन्न मूल के लोग निवास करते हैं, ये पोस्टर एवं पैंफलेट अंग्रेज़ी के अलावा हिंदी, गुरूमुखी, उर्दू तथा बंगला में भी मुद्रित किए जाते हैं, ताकि कोई भी साक्षर व्यक्ति इनके बारे में जानकारी आसानी से हासिल कर सके। ऐसी ही व्यवस्था हमारे देश में भी लाभप्रद होगी ।

पुलिसजनों के प्रशिक्षण में भी इस से संबंधित विषयों का समावेश करना आवश्यक होगा । साथ ही कार्य क्षेत्र में इससे जुटे हुए कार्यों को संपादित करने के लिए पुलिस को संसाधन– जैसे शव वाहक गाड़ियाँ, एंबुलेंस, तात्कालिक उपचार से संबद्ध धनराशि आदि भी– देय होगा । पुलिस–प्रक्रिया में भी संशोधन करके कार्य के वरीयता क्रम में सुधार लाना आवश्यक होगा, ताकि घायल आदमी के उपचार को अनुसंधान से ऊपर वरीयता प्राप्त हो । इसी प्रकार

धन हानि के मामलों में जैसे ही यह बात सिद्ध हो कि वस्तुतः अपराध के कारण संबद्ध व्यक्ति को हानि हुई है, अनुसंधान की परिणति की प्रतीक्षा किए बग़ैर उसे इस अर्थ का प्रमाण पत्र दिया जा सके, इसकी व्यवस्था की जानी चाहिए। इन सब सुधारों के पीछे सदैव यह मूल भावना रहे कि किस प्रकार अपराध के शिकार व्यक्ति की अधिकाधिक सहायता जल्दी–से–जल्दी की जा सकती है ।

इसी प्रकार पुलिस विभाग के विरूद्ध शिकायतों के निपटारे के लिए भी वर्तमान पुलिस प्रणाली में व्यवस्थागत सुधार की आवश्यकता है। यह सत्य है कि विभिन्न कारणों से हमारे देशवासियों को पुलिस विभाग से मानवाधिकारों के हनन एवं व्यतिक्रम के संबंध में व्यापक तौर पर शिकायत रहती है। इन शिकायतों की संख्या बहुत अधिक होती है। हरेक पुलिस अधीक्षक को प्रतिदिन लगभग सौ, सवा सौ ऐसे शिकायती पत्र प्राप्त होते हैं। इनमें से कुछ सच्चे होते हैं, बहुधा अतिरंजित होते हैं और कई बेबुनियाद। होशियार अपराधी तत्व सक्रिय पुलिस अधिकारियों की छवि बिगाड़ने या उन्हें निष्क्रिय करने के लिए झूठी–सच्ची मनगढ़ंत शिकायतों का पुलिंदा उनके खिलाफ भिजवाता रहता है। प्रारंभ में प्रत्येक पुलिस अधिकारी इन शिकायती पत्रों को बड़ी गंभीरता से लेता है तथा उनकी विस्तृत जाँच भी कराता है। यदि इस प्रारंभिक स्थिति में ही अधिकांश आवेदन पत्र निर्मूल पाए जाते हैं वह यह निष्कर्ष निकालता है कि इन आवेदन पत्रों की जाँच में समय एवं श्रम का लगाना निरर्थक है। फलस्वरूप बाद में इनका निस्तारण एक ज़ाब्ते की कार्रवाई मात्र हो जाती है ।

यदि उसकी प्रवृत्ति ऐसी न भी बने तब भी इनका समुचित निस्तारण व्यावहारिक रूप से अत्यंत दुष्कर होता। प्रत्येक शिकायत की जाँच एक छोटे मुक़दमे की तफ़तीश जैसी ही होती है। तथाकथित स्थान का निरीक्षण, संबद्ध आवेदनकर्ता एवं अन्य साक्षियों के वक्तव्यों को लिपिबद्ध करना, अन्य व्यक्तियों से पूछ–ताछ करना, संबद्ध अभिलेखों का अध्ययन एवं परीक्षण तथा जिन पुलिसकार्मिकों के विरूद्ध आरोप लगाए गए हैं उनका वक्तव्य लेना एवं तत्पश्चात् सभी साक्ष्यों एवं परिस्थितियों का विश्लेषण करते हुए जाँच की रिपोर्ट बनाना इस प्रक्रिया के आवश्यक अंग होते हैं। इन सब के लिए जाँच अधिकारी, समय एवं साधनों की आवश्यकता होती है। जब महत्वपूर्ण अपराधों के अभियोगों की विवेचना के लिए ही ये उपादान उपलब्ध नहीं हैं और उनकी आपूर्ति– राज्य सरकारों के पास संसाधनों की कमी होने के कारण नहीं हो पा रही है तो वर्तमान प्रणाली के अंतर्गत इन शिकायतों के समुचित निस्तारण के लिए संसाधनों की अपेक्षा आकाश–कुसुम की भाँति ही लगती है ।

किसी शिकायत के कारण बहुधा जब राजनैतिक या जनता का दबाव पुलिस अधिकारियों पर पड़ता है तो किसी प्रकार विषम परिस्थिति से उभरने के लिए अथवा अपनी कुर्सी बचाने के चक्कर में वे प्रकरण के गुण–दोष का समुचित विश्लेषण एवं विवेचन किए बग़ैर ही अधीनस्थ कर्मचारियों के स्थानानांतरण अथवा निलंबन का आदेश पारित कर देते हैं। इससे संबद्ध कठिन परिस्थिति से छुटकारा तो मिल जाता है, किंतु पुलिस तंत्र के मानस में इसका प्रभाव बड़ा प्रतिकूल एवं हतोत्साहित करने वाला पड़ता है । विधि–व्यवस्था एवं पुलिस प्रशासन की कार्यप्रणाली के प्रति उनकी निष्ठा एवं आस्था में कमी आती है । पुलिस जन–क़ानून

क़ायदे के मुकाबिले राजनैतिक पृष्ठ–पोषण एवं पहुँच पर अधिक यकीन करने लगते हैं और उनके इशारों पर उनके विरोधियों के मानवाधिकारों पर चोट करने में उन्हें संकोच नहीं होता है।

अतः दोनों वर्गों, जनता एवं पुलिसकर्मी के हितों के संरक्षण के लिए एक ऐसी संस्था की आवश्यकता है, जो स्वतंत्र, निरपेक्ष एवं प्रकटरूप से शिकायतों की जाँच करे तथा निष्पक्ष विवेक के आधार पर अपने निष्कर्ष प्रस्तुत करे ।

इस स्वतंत्र संस्था के गठन से तीन लाभ प्राप्त होंगे :– प्रथमतः जनसाधारण को यह विश्वास होगा कि उनकी शिकायतों की जाँच एक स्वतंत्र संस्था कर रही है । चूँकि इस संस्था का पुलिस कार्मिकों के हित की रक्षा में कोई निहित स्वार्थ लिप्त नहीं होगा, अतः यह शिकायतों की जाँच समुचित रूप से बिना किसी दबाव के कर सकेगी, यह अपेक्षा एवं आस्था जनता के हृदय में होगी । फलस्वरूप मैजिस्टीरियल जाँच या जुडिशियल जाँच के लिए जो आंदोलन होते हैं, उनमें कमी आएगी ।

दूसरे इस संस्था के गठन का अच्छा प्रभाव पुलिसजनों के व्यवहार एवं आचरण पर पड़ेगा । उन्हें सदैव यह संज्ञान रहेगा कि उनके कार्य एवं आचरण की समीक्षा उनके विभागीय अधिकारियों के अतिरिक्त अन्य स्वतंत्र अधिकृत व्यक्ति भी कर सकते हैं। उससे वे अपने व्यवहार एवं आचरण को शुद्ध एवं विधिविहित बनाए रखने हेतु सजग एवं सतर्क रहेंगे। कई बार यह देखने में आया है कि कार्यकुशल पुलिस अधिकारी अपनी प्रारंभिक सफलताओं के कारण अपने अधिकारियों का विश्वासी एवं चहेता बन जाता है। इस कारण उसके अधिकारी उसके दुर्व्यवहार या कदाचरण की शिकायतों पर अब ध्यान नहीं देंगे, यह विश्वास उसे मनमानी करने की ओर प्रवृत्त करता है । यदि उच्चाधिकारी एवं अधीनस्थ कार्मिक भ्रष्ट हुए और दोनों में तालमेल रहा तो पारस्परिक दूषित लाभ के लिए उच्चाधिकारी अधीनस्थ कर्मचारी के कदाचरण की शिकायतों की या तो जाँच ही नहीं करेगा या यदि करेगा भी तो लीपापोती के जरिए उसे निर्मूल साबित करने की यथासंभव चेष्टा करेगा । प्रस्तावित संस्था इस प्रवृत्ति पर अंकुश लगाने में प्रभावी सिद्ध होगी ।

तीसरे यह संस्था उत्तम कार्य एवं आचरण वाले पुलिस अधिकारियों एवं कार्मिकों को उन स्वार्थपरक एवं सद्विवेक शून्य राजनैतिक एवं निहित स्वार्थ वाले तत्वों से बचाएगी, जो अपने व्यक्तिगत या दलगत स्वार्थ के कारण मिथ्या आरोपों के आधार पर उनके उच्च अधिकारियों पर दबाव डाल कर उन्हें स्थानांतरित या निलंबित कराते हैं ।

इस प्रकार हम पाते हैं कि ऐसी एक संस्था का गठन सभी के लिए लाभदायक एवं आवश्यक है। इस संस्था के संगठन के विभिन्न स्वरूप हो सकते हैं, किंतु इसके अनिवार्य अंग दो स्तरों पर होंगे – (अ)–जनपद स्तर पर, एवं (आ) राज्य स्तर पर ।

जनपद स्तर पर एक जनपद शिकायत निवारण अधिकारी के कार्यालय की स्थापना की जाएगी। यह अधिकारी पुलिस प्रशासन या न्याय विभाग, तीनों में से किसी भी विभाग से चयनित किया जा सकता है। इन विभागों से इसका चयन इसलिए आवश्यक है कि उसे

पुलिस कार्य प्रणाली, आपराधिक विधि के प्रावधानों तथा विवेचना की प्रक्रियाओं का अच्छा सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक ज्ञान हो।

इस अधिकारी का यह कर्त्तव्य एवं दायित्व होगा कि वह पुलिस के विरूद्ध की गई मानवाधिकारों के हनन या क्षति से संबद्ध शिकायतों की जाँच एक मास के अंतर्गत पूरी करे, ऐसी व्यवस्था हो। कार्याधिक्य की परिस्थिति में उसे यह अधिकार होना चाहिए कि वह समाज के प्रतिष्ठित व्यक्तियों अथवा गैर–सरकारी, समाजसेवी संस्थानों (एन.जी.ओ.) के जरिए जाँच संपन्न करा ले। यह प्रणाली ऐसी ही होगी जैसे ऑनरेरी मैजिस्ट्रेट या एमिकस क्यूरी द्वारा जाँच संपन्न कराने की प्रणाली होती है। जाँच संपन्न करने के बाद वह शिकायतकर्त्ता को अपनी जाँच के निष्कर्ष से लिखित रूप में अवगत करा देगा; साथ–ही–साथ प्रत्येक मास के अंत में वह अपने कार्य का लेखा–जोखा राज्य स्तरीय शिकायत निवारण बोर्ड को भेजेगा, जो इसकी समीक्षा करेंगे।

इस अधिकारी की वरीयता एवं पद जिला स्तरीय प्रशासनिक एवं पुलिस अधिकारियों के समतुल्य होना चाहिए । इससे उसके इन अधिकारियों के दबाव में आने की आशंका नहीं होगी; साथ ही इस अधिकारी का एक जनपद में कार्यकाल पूर्वतः निश्चित होना चाहिए, ताकि राजनैतिक स्वार्थवान तत्व उसको उनके इशारों पर न चलने पर रफूचक्कर न करा दें। उसके विरूद्ध जो शिकायतें, यदि आएँ तो उनकी जाँच बिना राज्यस्तरीय शिकायत निवारण बोर्ड की अनुमति के न की जा सके, ऐसा वैधानिक प्रावधान हो। ग़र्ज यह कि उसे स्वतंत्र, निर्भीक एवं पक्षपात विहीन रूप से कार्य करने हेतु एक वातावरण मिले, ऐसी व्यवस्था करना अनिवार्य होगा नहीं तो इस संस्था के संगठन के मूल उद्देश्य की पूर्ति नहीं हो सकेगी ।

राज्य स्तरीय शिकायत निवारण बोर्ड के संगठन का प्रारूप वैसा ही होना चाहिए, जैसा राज्यस्तरीय प्रशासनिक ट्रिब्यूनल या लोक सेवा आयोग आदि संवैधानिक संस्थानों का होता है। इनके सदस्यों का चयन राज्य के मुख्यमंत्री, विरोधी पक्ष के नेता तथा उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश द्वारा सम्मिलित रूप से किया जाएगा, ताकि निष्पक्ष एवं निर्भीक व्यक्तित्व वाले व्यक्ति ही इस बोर्ड में कार्य करें । एक बोर्ड का कार्यकाल पाँच वर्षों का होना चाहिए। इस बोर्ड की अध्यक्षता हेतु उच्च न्यायालय या उच्चत्तम न्यायालय का निवर्त्तमान न्यायाधीश तथा सदस्यता हेतु पुलिस के महानिदेशक पद से निवर्त्तमान अधिकारी एवं समाज के प्रबुद्ध समाज सेवी एवं अग्रणी व्यक्ति –जिसकी किसी राजनैतिक दल से संबद्धता न हो, चयन किया जाएगा । इस बोर्ड को यह अधिकार होगा कि वे इन्हीं तीन वर्गों –उच्च न्यायालय, पुलिस के महानिदेशक पद पर कार्य कर चुके व्यक्तियों एवं समाज के अग्रणी तत्वों, में से अस्थायी सदस्यों को मनोनीत कर सके । इस बोर्ड का मुख्यालय राज्य मुख्यालय ही होगा, किंतु इसके सदस्य – स्थायी या अस्थायी, दौरे पर राज्य के किसी भी स्थान पर अपना कर्त्तव्य एवं दायित्व का निर्वाह करने हेतु सक्षम होंगे।

जनपद–शिकायत–निवारण अधिकारी जाँच के उपरांत अपनी विस्तृत आख्या इस बोर्ड को अग्रसारित करेगा । संबद्ध जनपद का कार्य देखने के लिए निर्दिष्ट बोर्ड सदस्य – स्थायी या अस्थायी, उसकी आख्या की समीक्षा करके पूर्ण बोर्ड के समक्ष इसे अपनी संस्तुतियों समेत

प्रस्तुत करेगा । यदि बोर्ड सदस्य इस निर्णय पर पहुँचता है कि मात्र विभागीय कार्रवाई ही प्रस्तुत प्रकरण के समाधान हेतु समुचित होगी तो वह इसी निर्देश के साथ आख्या जनपद–शिकायत–निवारण अधिकारी को वापस लौटा देगा । उसकी संस्तुतियों के आधार पर निर्दिष्ट समयावधि के अंतर्गत जनपद पुलिस विभाग विभागीय कार्रवाई संपन्न कर अपना निर्णय राज्य स्तरीय शिकायत निवारण बोर्ड को जनपद शिकायत निवारण अधिकारी के माध्यम से प्रेषित करेगा । यदि बोर्ड विभागीय कार्रवाई से संतुष्ट हुआ तो अध्यक्ष, बोर्ड, इस प्रकरण को समाप्त कर देगा ।

यदि बोर्डकृत कार्रवाई से असंतुष्ट हुआ तो अध्यक्ष एवं दो सदस्यों का पीठ इस मामले की सुनवाई हेतु शिकायतकर्त्ता, जनपद स्तरीय शिकायत–निवारण अधिकारी एवं संबद्ध पुलिस अधिकारियों को नोटिस जारी करेगा। ऐसी परिस्थिति में यह बोर्ड एक न्यायिक पीठ की तरह कार्य करेगा ।

यदि शिकायतकर्त्ता जनपद स्तरीय शिकायत निवारण अधिकारी की जाँच से संतुष्ट न हो तो वह बोर्ड में अपनी बात प्रस्तुत कर सकेगा । इसी प्रकार यदि पुलिस अधिकारी भी यदि जनपद स्तरीय कार्रवाई से संतुष्ट न हो तो वह भी इस बोर्ड के समक्ष अपनी बात प्रस्तुत कर सकेगा ।

अतिरंजित अथवा तथ्यहीन शिकायतों की भरमार न हो, इसलिए दलित–वर्गों के सदस्यों के अतिरिक्त अन्य सभी नागरिकों से शिकायत–पत्र के साथ कोर्ट–फीस या शपथ–पत्र लेना आवश्यक होगा। यदि शिकायत सही पाई जाए तो इस राशि के लौटाने की व्यवस्था की जा सकती है।

वर्ष के अंत में इस बोर्ड के कार्यों की समीक्षात्मक आख्या राज्य विधायिका के पटल पर अध्ययन एवं वाद विवाद हेतु प्रस्तुत की जाएगी, ताकि सभी विधायकों को तथा प्रसार–माध्यमों के द्वारा जन–साधारण को इस बोर्ड के कार्यों की जानकारी हासिल हो सके।

इस बोर्ड एवं इससे संबद्ध तंत्र, इसकी कार्य–प्रणाली, इसके दायित्व, पुलिस विभाग का इसके प्रति उत्तरदायित्व आदि सभी बिंदुओं का समुचित निरूपण करने वाला कानून विधायिका द्वारा पारित किया जाएगा तथा व्यापक प्रचार द्वारा जन–साधारण को सूचित किया जाएगा । इस प्रकार की व्यवस्था जनता के मानवाधिकार की संरक्षा हेतु सबसे अधिक कारगर सुधार होगा।

भारतीय पुलिस प्रणाली में इन व्यवस्थागत सुधारों को लागू करने से पुलिस संगठन की उप–संस्कृति में सही मूल्यों–उचित लक्ष्य, शुद्ध प्रक्रिया एवं साधन तथा सदाचरण की अवधारणा हो सकेगी। इससे हमारे राष्ट्र में प्रत्येक मनुष्य के मूलभूत मानवाधिकारों के उपयोग एवं उपभोग हेतु सम्यक् वातावरण बन सकेगा।

गरिमापूर्ण जीवन

मदन गुप्त

मानव अधिकार 'सभ्यता' का बीज है। मनुष्य का विकास और उसका संस्कृति के स्तर तक का आरोहण मनुष्य की मानव अधिकारों के प्रति चेतना और उनकी स्थापना का सतत् प्रयास है। संप्रदाय, समाज, धर्म, राज्य, राष्ट्र, विश्व संगठन, मानव की इस अदम्य इच्छा का ही परिणाम है। पुरातन की ओर झाँकेंगे तो इस संबंध में उपलब्ध साहित्य इतनी अधिक मात्रा में उपलब्ध हो जाएगा कि इसका अध्ययन तो अलग, मात्र पठन भी एक जन्म में समाप्त नहीं होगा।

प्रश्न ऐतिहासक परिप्रेक्ष्य में झाँकने का कम और आधुनिक संदर्भ में उसका निरूपण और मीमांसा करना अधिक है। जहाँ पूर्व में यह पक्ष नैतिक मूल्यों या धार्मिक आस्थाओं से जुड़ा रहा है, आज उसे क़ानूनी जामा पहनाया जा चुका है। आज के समय में मानव अधिकारों के हनन पर साहित्य सृजन नहीं, बल्कि क़ानूनी कार्यवाही संभव है। आज इन अधिकारों के लिए क़ानूनी लड़ाई लड़ी जा सकती है और उनकी स्थापना करना संभव है। आज करूणा नहीं, आँसू नहीं, उनके प्रति चेतना वांछित है। कुछ समय पहले तक ऐसा सोचना भी नया-नया सा लगता था। अभी भी जिनका वास्ता इस विषय से नहीं पड़ा है उन्हें ये बातें थोथी, खोखली या काल्पनिक ज़्यादा लगेंगी। लेकिन जब मानव अधिकार आयोग के माध्यम से किसी व्यक्ति को (नागरिक ही नहीं हर मानव को) ये अधिकार तामील करवाए जाते हैं तो इनके महत्त्व और प्रक्रिया से आदमी रूबरू हो जाता है।

भारत के संविधान के मौलिक अधिकारों से सभी वाक़िफ हैं। उससे कम लोग नीति संबंधी मार्गदर्शी सिद्धान्तों से वाक़िफ हैं जिसका एक कारण यह है कि इन मार्गदर्शी सिद्धान्तों को लेकर नागरिक अदालत के माध्यम से उन्हें लागू करने के लिए सरकार को बाध्य नहीं कर सकता। लेकिन मौलिक अधिकार लागू करवाए जाते हैं। पीड़ित व्यक्ति न्यायालय में जाकर न्याय की प्रार्थना कर सकता है और न्यायालय मौलिक अधिकारों की अनुपालना करवाती है। चाहे हननकर्ता को दंडित ही क्यों न करना पड़े। इन मार्गदर्शी सिद्धान्तों में निहित हैं कुछ मानव अधिकार भी जिन्हें राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग और राज्य मानव अधिकार आयोगों के माध्यम से लागू करना संभव है।

इस विषय में प्रमुख आवश्यकता है लोगों को जागरुक बनाने की। इन्हें सचेत करने की। मानव ही तो दूसरे मानव के अधिकारों का हनन करता है। अगर यह छोटी किन्तु

बहुमूल्य बात समझ में आ जाए कि हर मानव को कुछ मूलभूत अधिकार मिले हैं तो संभवतः कोई किसी दूसरे के मानव अधिकारों का हनन नहीं करेगा । इस चेतना के अभाव में अज्ञानवश शारीरिक बल, धनबल, जनबल, बाहुबल, सत्ताबल, मित्रबल, बुद्धिबल, सौंदर्यबल आदि के द्वारा एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के मानव अधिकारों पर कुठाराघात कर बैठता है । किसी प्रकार, बल से या छल से अगर एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के मानव अधिकारों का हनन न करे तो यह मानव समाज सुसंस्कृत, सभ्य तो कहलाएगा ही, साथ ही धरती पर सच्चा स्वर्ग भी बन जायेगा। उदाहरण के लिए जल, वायु और सूर्य के प्रकाश पर सभी मनुष्यों का बराबर का अधिकार है । आप किसी व्यक्ति को इनके उपयोग से रोक नहीं सकते, पर मनुष्य है कि अपनी हरकतों से बाज़ नहीं आता । एक पानी को ही लें : जो जल सबके उपयोग के लिए है, उसी जल के लिए कुछ लोग प्यासे मर जाते हैं और कुछ उसे बस पानी की तरह ही बहाते हैं । शराब की तरह नहीं। उनके लिए शराब ज़्यादा महत्त्वपूर्ण है न कि पानी। जबकि बिन पानी आदमी (बच्चा, जवान, बूढ़ा स्त्री, पुरूष) जानवर, पक्षी, पेड़–पौधे मर जाते हैं। पर 1947 के बाद भारत में सत्ता की धाक जमाने वाले शासक, प्रशासक वर्ग ने कैसे–कैसे तड़पाया है लोगों को बिन पानी के, ये तो किसी ने आँकड़े एकत्रित किये हों तो बता सकता है। पर यह सत्य है कि हर चुनाव में – छोटा बड़ा चुनाव हो, संसद, विधान सभा, जिला परिषद्, पंचायत या म्युनिसिपैलिटी का। इस पानी के नाम पर लड़ा गया है और जीता–हारा गया है। इतना पानी देश में है कि हर आदमी की आवश्यकता उदारतापूर्वक पूरी कर दे, किन्तु मानव अधिकारों से अनभिज्ञ सत्ताधारी इस पीने के पानी को सत्ता का मोहरा बनाए हुए हैं। इसमें वे तत्त्व भी शामिल हैं जो इस पानी का व्यापार भी करते हैं । अगर हर व्यक्ति को आसानी से पानी मिल जाएगा तो बोतलों में बंद पानी कौन ख़रीदेगा । रेल और बस से यात्रा करने पर इस बात का संज्ञान हो जाएगा कि प्लेटफार्म और बस स्टैंड पर लगे नलों में पानी नहीं होता है पर इस जगह बोतलों में उसी रेलवे स्टेशन या बस स्टैंड से भरा गया पानी बिक रहा है। यह मानव अधिकार और उसके हनन की देशव्यापी एक मिसाल है ।

प्रकृति आदमी को भी अच्छी तरह जानती है । मनुष्य के पानी के प्रति अमानवीय रवैये के बारे में वह सचेत रही है । इसीलिए जल स्त्रोत कभी सूखेंगे नहीं। गंदे किए पानी का नैसर्गिक शोधन होता रहेगा जिससे यह जीवन नियामक द्रव्य जीव–जंतु–वनस्पतियों को अबाध रूप से उपलब्ध होता रहे । मनुष्य के लालच से वायु पर भी गहरा कुठाराघात होगा। इस तथ्य से भी प्रकृति वाकिफ़ थी । उसके भी शोधन के नियम प्रकृति के भौतिक शास्त्र, रसायन–शास्त्र, जीव विज्ञान, वनस्पति शास्त्र, पर्यावरण, अभियांत्रिकी आदि नियमों में समाहित है। आग, आँधी, बरसात उसका शोधन–परिशोधन करके श्वास लेने लायक वायु उपलब्ध कराते हैं। पर मनुष्य उसे बाँध नहीं सकता । इसी प्रकार चाँद तक मनुष्य को दख़ल करने का अधिकार दे दिया या कहें कि सामर्थ्य दे दिया। पर सूर्य की रोशनी के बिना जीवन संभव ही नहीं है अतः उसे मनुष्य की पहुँच से एकदम दूर रखा । अगर आदमी सूर्य पर अधिकार कर सकता होता तो प्रकाश भी राशन से मिलता। कोई लाइसेंस–परमिट के दायरे में ले आता, कुछ और न होता तो कमर्शियल टैक्सेशन ही आपद कर देता । आदमी

की सीमाओं से वाक़िफ़ प्रकृति ने सूर्य को मनुष्य की पहुँच से बाहर रखकर एक मानव अधिकार तो सुलभ करा दिया है । इसका थोड़ा-सा हनन उन मामलों में होता है जहाँ किसी के भवन के बनाए जाने पर पड़ौसी की हवा-रोशनी रोक ली जाती है और सिविक अथॉरिटी ऐसे उल्लंघन के लिए पीड़ित व्यक्ति की सहायता नहीं करती जिससे उसे न्यायालय जाना पड़ता है । मानव अधिकारों के ऐसे हनन के मामलों में न्यायालय के बजाय आयोग से राहत मिलनी चाहिए ।

मानव अधिकारों के संबंध में यह स्पष्ट करना ज़रूरी है कि जो सरसरी तौर से देखने पर एकदम साधारण-सी बात लगे, विशेषज्ञों की नज़र में वही बात अहम् होती है। अब बाल मज़दूरों को ही ले लीजिए । ऐसे अबोध बालकों का शोषण करने वाला तो सोचता है कि वह उस बच्चे पर एहसान कर रहा है और क़ानून की नज़र में यह एक अपराध है। मानव अधिकार के इस हनन के लिए कौन ज़िम्मेदार है? वह व्यक्ति जो ऐसे बालक से मज़दूरी करवाता है या वह समाज जो अपने ही बच्चों के प्रति ऐसी बेरुखी रखता है या वह सरकार जिसकी ज़िम्मेदारी ऐसे बच्चों के पालन-पोषण की व्यवस्था करना है या जैसा कि होता आया है ईश्वर? जब हम विचार करने बैठेंगे तो हम देखेंगे कि बच्चे के साथ अमानवीय व्यवहार हो रहा है। यह भी हम पाएँगे कि नियोजक और सरकार दोनों ही दोषी हैं और, जब ऐसा मामला आयोग के सामने आएगा या आयोग स्वयं भी मानव अधिकार के ऐसे उल्लंघन में हस्तक्षेप करेगा तो बच्चे को राहत मिलेगी। उसे शोषण से भी बचाया जा सकेगा और उसके पालन-पोषण-शिक्षा की व्यवस्था भी हो जाएगी । किन्तु समाज की भूमिका ऐसे सभी मानव अधिकारों से जुड़े मसलों में सबसे अहम् है और उसे तो ध्यान देना ही होगा ।

अब विकल तन या विकल मन लोगों को ही लें । मनुष्य होने के नाते उनको वो सभी अधिकार समान रूप से उपलब्ध हैं जो किसी दूसरे व्यक्ति को हैं। किन्तु दृष्टिहीन, मूक, बधिर, अपंग, निर्बल, निःशक्त, मन्दबुद्धि, लँगड़े-लूले, कुष्ठरोगी आदि मनुष्य के प्रति समाज का कैसा रवैया होता है, यह सभी जानते हैं । उनके रोज़ी-रोटी के अवसर कैसे हैं, यह भी सर्वविदित है। किन्तु क्या उनकी शिक्षा-दीक्षा, नौकरी-व्यवसाय आदि की समुचित व्यवस्था नहीं की जानी चाहिए? जिस समाज में अपनी जनसंख्या का एक बड़ा भाग (जो कि भारत में करीबन दस प्रतिशत है) उपेक्षित रह जाए, वहां सुख-शांति-समृद्धि की कल्पना करना कठिन है। फिर तो आपको हर चौराहे और ट्रैफिक लाइट पर भाँति-भाँति की अपंगता से ग्रस्त व्यक्ति भीख माँगते नजर आएँगे जबकि इन सबकी उपायदेयता है। पूर्णरूप से आँखों की ज्योति खोए व्यक्तियों ने एम.बी.ए., एम.एस.सी., एम.ए., एल.एल.बी. जैसे विषयों की डिग्री हासिल करके अपने-अपने क्षेत्र में नाम कमाया है। लँगड़ा-लूला व्यक्ति हर काम कर लेता है। जब शरीर का एक अंग उपयोग में लाए जाने योग्य नहीं रहे तो दूसरे अंगों में उस हिस्से का काम करने की क्षमता आ जाती है अर्थात् ऐसे व्यक्तियों की उपादेयता बनी रहती है। कौशल और ज्ञान के सहारे ये व्यक्ति आत्म निर्भर भी होते हैं और समाज को अपना समूल्य योगदान भी करते हैं। संगीत की दुनिया में ऐसे कई सितारे हैं। कमोबेश ये ही तर्क बाल-शारीरिक दुराचार, मनोरोगियों, दंगा पीड़ितों, आतंकित लोगों, स्त्रियों, बुजुर्गों आदि के मानव अधिकारों के विषय में भी लागू होते हैं।

भारतीय संविधान में एक सबसे बड़ा मानव अधिकार निहित है और वो है न्याय पाने का अधिकार । आपने अक्सर लोगों को यह शिकायत करते सुना होगा कि "हमारी तो कोई सुनवाई नहीं है" "कोई सुनता ही नहीं है" आदि। यह सच है। जिनको सरकार की योजनाओं का लाभ जनता तक पहुँचाने की जिम्मेदारी सौंपी गई थी, वे उसे अपनी सत्ता या अधिकार या पावर समझ बैठे । जो ज़न सेवक या जनता के सेवक या पब्लिक सर्वेंट हैं, वो अपने आप को मालिक समझ बैठे और जो काम उन्हें आदेशानुसार करना ही था, उसमें करने या न करने के अधिकार की व्याख्या कर बैठे। नतीजा यह हुआ कि शिक्षा का स्तर इतना गिरा दिया कि अब बेधड़क दुकानें चलने लगी हैं। कोई आठवीं फेल को सीधे इंटर पास करवाता है तो कोई पर्चा लीक करवाता है । कोई नंबर बढ़वाता है तो कोई नौकरी लगवाता है। स्वास्थ्य सेवाओं की जो हालत कर डाली गई है, उसका परिणाम है कि डॉक्टर अस्पताल में नहीं नर्सिंग होम में या कैमिस्ट की दुकान पर उपलब्ध होता है । क़ानून व्यवस्था अपने से चरमरा रही है। जो कहावत थी कि डॉक्टर, पुलिस और कचहरी से भगवान बचाए, अक्षरशः सच होती नज़र आ रही है। वकीलों की फीस एक–एक पेशी पर हाज़िरी लगाने भर की लाख–लाख रूपया होती है। जो ख़रीद सके उसको न्याय, वरना बाकी जाओ अपने भाग्य को कोसो। जी नहीं अब भाग्य को नहीं कोसा जाएगा । अब मामला खुद पीड़ित मानव अधिकार आयोग के सामने उठाएगा और उसे न्याय मिलेगा । अगर जुल्म, अत्याचार, अनाचार के विरूद्ध तुरंत न्याय उपलब्ध नहीं होगा तो भारत क़ानून से शासित नहीं हो सकेगा । मानव अधिकार आयोग से यह उपेक्षा है कि उन्हें तुरंत न्याय मिले। उसी शीघ्रता से सुनवाई हो, उतनी ही जल्दी न्याय दें जैसा बादशाहों के किलों से लटकती ज़ंजीर खींचने पर पीड़ितों को खुद बादशाह देता था। न्यायिक प्रक्रिया और वकीलों के चक्कर में यह मानव अधिकार यज्ञ भ्रष्ट न हो जाए!

भारतवासियों से भी यह अपेक्षा रहेगी कि इस मामले में ईमानदारी, ज़िम्मेदारी, समझदारी से काम लें। झूठी शिकायतें कभी भूलकर भी न करें। आयोग का बहुमूल्य समय नष्ट न करें । न्याय प्रक्रिया में बाधा न डालें और अपने अवांछनीय कर्मों से दूसरे मनुष्यों को अपने अधिकारों की बहाली से वंचित न करें। संस्थाएँ बनाई तो जा सकती हैं किन्तु उन्हें स्वस्थ बनाए रखने का काम लाभार्थियों का है। अतः उन्हें दंडनीय कार्य नहीं करना चाहिए, बल्कि सदाचार का परिचय देना चाहिए।

मानव अधिकारों की स्थापना में भारत की उपलब्धि राष्ट्र का गौरव बढ़ाएगी और राष्ट्रों के समुदाय में उसे आदर दिलवायेगी ।

मानवाधिकार : अंतरराष्ट्रीय और भारतीय विधि के परिप्रेक्ष्य में

प्रो. बी बी पांडे

मानवाधिकार की परिकल्पना पिछली शताब्दी के मध्य में विश्व समुदाय के समक्ष एक सर्वमान्य कसौटी के रूप मे उभरी है। इसी कसौटी के आधार पर आधुनिक युग में व्यक्ति, समुदाय, व्यवस्था और राज्यों के खरे और खोटे होने का निर्णय किया जाता रहा है। यह कहना अतिशयोक्ति न होगा कि अंतरराष्ट्रीय राजनीतिक स्तर पर मानवाधिकार एक नए और सशक्त मापदण्ड के रूप में पहचाने जा चुके हैं पर क्योंकि मानवाधिकार का मापदंड अंतरराष्ट्रीय और राष्ट्रीय राजनीति एवं कूटनीति के अहम हिस्से हैं, इसलिए इसकी चर्चा के पहले निम्न तीन ख़बरों से आगाह रहना होगा : प्रथम, मानवाधिकार की चर्चा एक प्रकार के प्रवचन मात्र का अभ्यास बन कर न रह जाए जो मानवाधिकारों को अच्छाइयों तथा जनहिताय मानकर चलने से आती है। कबीरदास जी इस प्रवचनात्मक प्रवृत्ति को 'पंडित वाद बदन्ते झूठा' से चरितार्थ कर चुके हैं। द्वितीय, मानवाधिकार की चर्चा मात्र चिढ़ाने या नीचा दिखाने का अभ्यास बन कर न रह जाए, जो इनके द्वारा मूल्यांकन भी मूल प्रवृत्ति के कारण उपजते है। भारतीय संदर्भ में न्यायालयों द्वारा पुलिस एवं सरकारी तंत्र की अनियमितताओं और कमियों को उजागर करना और उससे उपजने वाली खीझ इसके उदाहरण हैं। तृतीय, मानवाधिकार की चर्चा एक प्रकार से माया रचने का अभ्यास बन कर न रह जाए जो इनके, सभी प्रकार की निराशा और अन्याय की स्थितियों में, व्यक्ति और समुदाय के समक्ष 'एक और आशा' प्रस्तुत करने के गुण के कारण आती है। मानवाधिकार की माया, निराश व्यक्ति को आशा दिलाने से कही अधिक व्यवस्था तथा उससे जुड़े हुए लोगों को समर्थन एवं वैधानिकता प्रदान करने में सिद्ध होती है।

मानवाधिकारों का विश्वक स्वभाव

मानवाधिकार की सर्वमान्य परिभाषाओं में यह विश्वक तत्व प्रमुखता से उभरकर सामने आता है, जो उक्त परिभाषा में वर्णित है : "मानवाधिकार एक विशेष प्रकार के विश्वक नैतिक अधिकार हैं जिनकी हर व्यक्ति को, हर समाज में और सर्वदा ही आवश्यकता रहती है"। यह तत्व मानव मात्र के बीच समता और समानता के सिद्धान्त पर आधारित है। द्वितीय विश्वयुद्ध के उपरांत युद्धरत देशों की जनता पर होने वाली क्रूरता तथा अत्याचारों ने समस्त राष्ट्रों के नज़रिए को बदलकर रख दिया। इसी के फलस्वरूप राष्ट्रीयता की कल्पना के ऊपर

विश्वक मानवीयता की कल्पना का उदय हुआ जिसके कारण युनाइटेड नेशन्स आर्गनाइजेशन्स का जन्म हुआ। इन सभी घटनाओं के मूल में एक ही विचार था कि अगर समस्त मानव जाति समान हितों से अनुप्राणित रहती हैं और उनकी इच्छाएं तथा आकांक्षाए समान हैं तो उन सबके लिए एक समान अधिकार संहिता का निर्माण क्यों नहीं सभंव हो सकता?

मानवाधिकारों की नित्यता एवं अंतरणहीनता का तत्व

मानवाधिकार मनुष्य होने के कारण हैं अतः मानव, मानवाधिकारों का केन्द्र बिन्दु है। इसलिए यह अधिकार सदा ही मनुष्य के लिए आवश्यक होते हैं, भले ही सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक स्थिति कुछ भी हो क्योंकि मानवाधिकारों में मनुष्य कहलाने के लिए आवश्यक भय, भूख और अपमान से मुक्ति के अधिकार समाहित हैं, अतएव इन्हें नैसर्गिक तथा अंतकरण हीन अधिकार भी माना जाता है। नैसर्गिकता तथा अंतरणहीनता का तत्व मानवाधिकार तथा राष्ट्रीय विधि के बीच में टकराव की स्थिति पैदा कर सकता है। जिसके कारण मानवाधिकारों को राष्ट्र की सार्वभौमिकता के ऊपर अनावश्यक अवरोध के रूप में देखा जाता रहा है।

मानवाधिकारों की सर्वोच्चता तथा आदर्शरूपी तत्व

मानवाधिकारों को उन मांगों के रूप में भी देखा गया है जिनकी व्यक्ति और समूह अपने समाज से मांग करते हैं और जिनमें से कुछ को समाज राष्ट्रीय विधि में अंतर्निहित कर लेते हैं। इस प्रकार निंरतर कुछ मानवाधिकार लैक्स लाटा बन जाते हैं पर अधिकतर सामाजिक आकांक्षाओं के रूप में भविष्य में अंतर्निहित होने के लिए छूट जाते हैं। इस प्रकार मानवाधिकार की दूरगामी आदर्श रूपी कल्पना इन्हें राष्ट्रीय विधि से अलग देखने की दृष्टि प्रदान करती है। भारतीय मानव अधिकार संरक्षण अधिनियम, 1993 की धारा 2(क) में मानवाधिकारों की परिभाषा राष्ट्रीय तथा अंतरर्राष्ट्रीय विधि के समन्वयात्मक रूप को लेकर चली है जो इस प्रकार है :– "मानवाधिकारों का तात्पर्य जीवन, स्वतंत्रता, समानता तथा प्रतिष्ठा संबंधी व्यक्ति के उन अधिकारों से है जो संविधान प्रदत्त हैं या ऐसे अंतरराष्ट्रीय अभिसमयों में निहित है जिन्हें भारतीय न्यायालय प्रयुक्त करते हैं"। ऐसी परिभाषा मानवाधिकारों की राष्ट्रीय तथा अंतरराष्ट्रीय परिकल्पना की दूरी को घटाने की भूमिका पूरी करेगी, यह अपेक्षा की जा सकती है।

मानवाधिकार संबंधी अंतरराष्ट्रीय विधि व्यवस्था

मानवाधिकारों की सबसे सार्थक एवं सबल उद्घोषणा संयुक्त राष्ट्र के 1948 के चार्टर के रूप में की गई। इस सार्वभौमिक घोषणा में व्यक्ति के दीवानी तथा राजनैतिक अधिकार एवं सामाजिक तथा आर्थिक अधिकारों को समाहित किया गया है। इस प्रकार की सार्वभौमिक घोषणा केवल सदस्य राज्यों के उद्देश्यों को प्रदर्शित करती है, पर किसी प्रकार का विधिक दायित्व नहीं आरोपित करती । इसी प्रकार की सार्वभौमिक घोषणा 1959 में बच्चों के अधिकारों के संबंध में भी की गई है।

बीसवीं शताब्दी के छठे दशक के मध्य में दो महत्वपूर्ण विधिक प्रसंविदाएं (कवेनेन्ट्स)

संयुक्त राष्ट्र द्वारा पारित की गई जो सिविल एवं राजनैतिक अधिकार प्रसंविदा 1966 तथा सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक अधिकार प्रसंविदा 1966 के रूप में जानी जाती है। यह दोनों ही प्रसंविदाएं पक्षकार राष्ट्रों पर विधिक दायित्व अधिरोपित करती हैं। इन प्रसंविदाओं ने प्रथम. पीढ़ी के कहलाए जाने वाली सिविल और राजनैतिक अधिकारों तथा द्वितीय पीढ़ी के कहलाए जाने वाली सामजिक एंव आर्थिक अधिकारों को एक समय पर ही अलग–अलग प्रसंविदाओं में मान्यता प्रदान की है। विश्व के अनेक सदस्य राष्ट्रों ने इन प्रसंविदाओं को अब तक मान्यता प्रदान कर दी है जो सत्तर के दशक के मध्य में कार्यान्वित हो चुकी है।

श्रमिक वर्ग के अधिकारों को पिछली शताब्दी के तीसरे दशक से ही अंतरराष्ट्रीय स्तर पर मान्यता मिलती रही है। इसके फलस्वरूप अंतरराष्ट्रीय श्रम संगठन के द्वारा अनेकों प्रसंविदाएं, श्रम की आदर्श स्थितियां, श्रम की समय सीमाएं, बाल श्रम, महिला श्रम आदि से संबंधित है। इन अनेक प्रसंविदाओं के फलस्वरूप सदस्य राष्ट्रों के श्रमवर्ग के हितों की रक्षा कुछ सीमा तक संभव हो सकी है।

1989 में बालकों के अधिकार संबंधी एक बहुचर्चित प्रसंविदा पारित की गई। 45 धाराओं वाली यह प्रसंविदा बालकों के अधिकारों को चार मुख्य वर्ग जैसे (क) जीवित रहने का अधिकार (ख) संरक्षण पाने का अधिकार (ग) विकसित होने का अधिकार तथा (घ) सहभागिता का अधिकार में बाँट कर अन्य सहयोगी अधिकारों को मान्यता देती है। भारत ने इस प्रसंविदा का नवम्बर 1992 में पुष्टिकरण किया है। यह उल्लेखनीय है कि यह प्रसंविदा अब तक की सर्वाधिक पुष्टिकृत प्रसंविदा है जिसे 195 सदस्य देशों में से 193 देशों का पुष्टिकरण प्राप्त हो चुका है।

अंतरराष्ट्रीय विधि व्यवस्था का प्रभाव सदस्य देशों की विधि व्यवस्था पर प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप में पड़ सकता है। प्रत्यक्ष रूप में प्रभाव से तात्पर्य है कि विधि विपरीत आचरण करने वाले राज्य के ऊपर अंतरराष्ट्रीय विधि व्यवस्था के अंतर्गत कार्यवाही की जा सकती है। परोक्ष प्रभाव के अनेक स्वरुप हो सकते हैं जैसे अंतरराष्ट्रीय विधि के मानकों को राष्ट्रीय विधि में समाहित करना, आदि तथा शासन को मानवाधिकार पूरक बनाना, आदि।

अंतरराष्ट्रीय मानवाधिकार विधि तथा भारतीय न्यायालय

बीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक में भारतीय सर्वोच्च न्यायालय ने अंतरराष्ट्रीय मानवाधिकार विधि के प्रति आस्था का परिचय दिया है। सन् 1997 में निजता (privacy) के अधिकार, 1998 तथा 1999 (विशाखा बनाम राजस्थान राज्य ए. आई आर 1998 एस सी 3011; एक्सपोर्ट एप्रैल प्रमोशन काउंसिल बनाम ए के चोपड़ा ए आई आर 1999 ए सी 625) में महिलाओं के समानता के अधिकार के संदर्भ में सर्वोच्च न्यायालय ने एक नई पहल की। इसके अंतर्गत सभी अंतरराष्ट्रीय विधि तथा अभिसमय (कन्वेंशन) के नियमों को भारतीय न्यायालयों में लागू किया जा सकेगा जो किसी वर्तमान भारतीय विधि के विपरीत एवं विरोध में नहीं है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि मानवाधिकार संरक्षण अधिनियम 1993 की धारा 2(क) में दी गई मानवाधिकार की परिभाषा को महत्वपूर्ण विस्तार मिलेगा और न्यायालयों द्वारा बहुत

से ऐसे अधिकारों को लागू करवाया जा सकेगा जिनको हमारे अब तक के क़ानूनों में अंतर्निहित नहीं कराया जा सका है।

मानवाधिकार संबंधी भारतीय विधि व्यवस्था

भारतीय विधि व्यवस्था समय–समय पर पारित अंतरराष्ट्रीय अभिसमय तथा संधियों को अपनी विधि व्यवस्था में आत्मसात् करता रहा है। इसी के फलस्वरूप बाल मज़दूरी विरोधी प्रथम क़ानून 1938 में पारित हुआ तथा बालिकाओं एवं महिलाओं के यौन–शोषण विरोधी क़ानून 1956 में पारित किया गया। इसी प्रकार सन् 1956 में अस्पृश्यता अपराध अधिनियम, मानव अस्पृश्यता तथा जाति आधारित असमानता का विरोध करने की दृष्टि से पारित किए गए। इसी प्रकार 1976 में बंधुआ मज़दूरी उन्मूलन अधिनियम पारित किया गया और 1986 में नया बाल मज़दूरी उन्मूलन अधिनियम पारित किया गया क्योंकि नब्बे के दशक तक मानवाधिकार की चेतना प्रबल नहीं हो सकी थी इसलिए उक्त सभी अधिनियमों को सामाजिक विधि (Social Law) के रूप में जाना जाता रहा है। बंधुआ मज़दूर अधिनियम को अवश्य कुछ एक सर्वोच्च न्यायालय के निर्णयों में संवैधानिक अधिकारों की दृष्टि से अवश्य देखा गया।

भारतीय सर्वोच्च न्यायालय ने मानवाधिकारों को सांविधानिक अधिकारों के रूप में मान्यता देने वाले कुछ अत्यंत महत्वपूर्ण वाद निर्णीत किए हैं। इस प्रकार के विशिष्ट वाद बाल श्रम, शक्ति (पावर) के दुरूपयोग के पीड़ित व्यक्ति के अधिकार, कैदियों के अधिकार, महिलाओं के अधिकार के क्षेत्रों में हैं। बालश्रम व्यवस्था में अंतर्निहित मानवाधिकार का हनन सर्वोच्च न्यायालय ने सत्तर के दशक से ही पहचान लिया था पर 1996 में एम सी मेहता बनाम भारतीय गणराज्य के बाद में न्यायमूर्ति हंसारिया ने देश के ख़तरनाक उद्योगों में कार्यरत बालश्रम के विरोध में एक क्रांतिकारी निर्णय दिया जो विशेषतौर पर अपने ग्यारह निर्देशिकाओं के लिए अविस्मरणीय रहेगा। इसके द्वारा न्यायालय ने बालश्रम रोकने वाली शासन व्यवस्था के ऊपर सीधी जिम्मेदारियाँ लाद दी हैं और श्रम सचिव आदि के ऊपर पूरी व्यवस्था पर निगरानी डाल दी है। इस निर्णय के फलस्वरूप उत्तर प्रदेश और अन्य राज्यों में बालश्रम के क्षेत्र में विशेष उपलब्धियां सामने आई हैं। इसी प्रकार दंण्डात्मक व्यवस्था के अंतर्गत होने वाले अत्याचारों से मुक्ति दिलाने की पहल रूदुलशाह बनाम बिहार राज्य (1983), नीलवति बेहरा बनाम भारतीय गणराज्य (1993) तथा डी के बासू बनाम बंगाल राज्य (1997) में पीड़ित व्यक्ति को आर्थिक भरपाई का अधिकार देने का निर्णय दिया है।

मानवाधिकार की दृष्टि से नब्बे के दशक विशेष महत्वपूर्ण रहे हैं क्योंकि आर्थिक स्तर पर भूमंडलीकरण का प्रभाव विधि व्यवस्था पर भी पड़ा। आर्थिक रूप से झगड़े राष्ट्रों के हित में मानवाधिकारों को समुचित गारंटी के लिए इनको भारतीय न्याय प्रणाली में अंतर्निहित करना आवश्यक था। अतएव 1993 में भारत सरकार ने मानवाधिकार संरक्षण अधिनियम पारित किया। उक्त अधिनियम का उद्देश्य मानवाधिकार संबंधी व्यवस्था की संरचना करना है जिसके अंतर्गत मानवाधिकार उल्लंघन की जानकारी, विधिवत् जांच तथा उपयुक्त निस्तारण का प्रबंध हो सके। इस उद्देश्य हेतु केन्द्रीय तथा राज्य स्तरीय व्यवस्था की भी रूपरेखा उक्त अधिनियम में है। इस अधिनियम के अनुरूप 27 सितम्बर 1993 में राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग

का गठन किया गया है और अब तब अनेक राज्यों में राज्य मानवाधिकार आयोगों की स्थापना हो चुकी है। 1993 से अब तक निरंतर मानवाधिकार उल्लंघन की बढ़ती शिकायतों की संख्या इस बात का प्रमाण है कि राष्ट्रीय आयोग जनता के लिए न्याय का एक नया स्रोत बन गया है व्यक्तिगत शिकायतों के अलावा राष्ट्रीय आयोग की बालश्रम, कारागारों की स्थिति, शिक्षा के अधिकार तथा न्याय पाने के अधिकार के क्षेत्र में बढ़ती भूमिका इस बात की द्योतक है कि इस संस्था ने राष्ट्रीय स्तर पर अपनी पहचान बनाने की दिशा में एक सही पहल की है।

मानवाधिकार के अंतर्गत प्राथमिकता का प्रश्न

भारत जैसे पुरातन, रूढ़िवादी तथा असमानतामूलक समाज में मानवाधिकारों की प्राथमिकताएं क्या रहेंगी? किन मानवाधिकारों को समाज का कितना ध्यान देना उपयुक्त होगा? आदि प्रश्न अत्यन्त अहम् हैं। जैसा एक पैनी दृष्टि रखने वाले समाज–शास्त्री को पता रहना चाहिए कि भारत में मानवाधिकारों का सरोकार राज्य की व्यवस्था से कहीं अधिक ग़ैर राज्यीय सामाजिक तंत्र पर रहता है। यही तंत्र निर्धारित करता है कि कौन–कौन भूमिहीन एवं साधनहीन रहेंगे। कौन–कौन कितना सम्मान व अपमान का भागीदार होगा आदि। इसी कारण सर्वप्रथम उन मानवाधिकारों की ओर ध्यान जाना चाहिए जो मनुष्य की मूल आवश्यकता रूपी अधिकारों से सरोकार रखते हैं। इस संदर्भ में प्रथम मानवाधिकार आयोग के सदस्य बनने से पूर्व न्यायमूर्ति टी के थोमैन द्वारा दी गई उक्त टिप्पणी उल्लेखनीय है:–

"यह राज्य की मूलभूत जिम्मेदारी है कि वह आवश्यक कदम उठाए जिससे ग़रीबी से प्रभावित, अशिक्षित तथा असहाय जनता, जिसे शक्तिशाली एवम् धनाड्य वर्ग ने सदियों से भेदभाव एवम् शोषण का शिकार बनाया है, मुक्ति पा सकें। प्रस्तावित मानवाधिकार के राष्ट्रीय आयोग की यह प्राथमिकता रहनी चाहिए कि राज्य के किसी अंग के द्वारा अपने कर्त्तव्य निष्पादन में किसी प्रकार की ढील न हो। यह आयोग राष्ट्र के असहाय, ग़रीबी–ग्रस्त नागरिकों की सेवा में समर्पित होना चाहिए"।

न्यायमूर्ति थोमैन बाद में आयोग के सदस्य हुए पर ऐसा प्रतीत होता है कि आयोग प्रथम पीढ़ी के सिविल तथा राजनैतिक अधिकारों को मुहैया करवाने में अधिक व्यस्त हो गया है और असहाय तथा ग़रीब जनता अब तक प्रतीक्षारत है।

मानव अधिकार और यूनेस्को

प्रो. योगेश अटल

मानव अधिकारों के संदर्भ में 10 दिसम्बर 1948 का दिन विशेष महत्व का है। इस दिन संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा ने अपने अधिवेशन में सर्वसम्मति से मानव अधिकार संबंधी अपनी सार्वभौमिक घोषणा–'यूनिवर्सल डिक्लेरेशन ऑफ़ ह्युमन राइट्स' को पारित और अंगीकृत किया। इस घोषणा में वे अधिकार सम्मिलित किए गए जो सभी समाजों और राष्ट्रों के लिये मानदंड के रूप में स्वीकृत किए गए थे।

प्रथम विश्व युद्ध की विभीषिका ने यह आवश्यक बना दिया था कि अंतरराष्ट्रीय स्तर पर मूलभूत अधिकारों की रक्षा के प्रयत्न किए जाएँ। यद्यपि प्रथम विश्व युद्ध के बाद स्थापित की गई 'लीग ऑफ़ नेशन्स' के जनादेश (मेन्डेट) में इन अधिकारों का स्पष्ट उल्लेख नहीं था, फिर भी लीग ने अपने कार्य–क्षेत्र के भीतर जितना संभव हुआ, उतना इन अधिकारों के हनन को रोकने का प्रयास किया। कतिपय देशों के अल्पसंख्यक वर्गों की संरक्षा के लिये लीग द्वारा किए गए प्रयास इसके उदाहरण हैं।

लीग ऑफ नेशन्स की असफलता और विश्वयुद्ध की पुनरावृत्ति ने मानव अधिकारों की जिस प्रकार अवहेलना की, वह सर्वविदित है। तानाशाही सरकारों ने जिस प्रकार अपने राज्यों के भीतर और अन्य अधिगृहीत क्षेत्रों में मानव अधिकारों का क्रूरता से हनन किया और समूचे मानव समूहों को उनकी प्रजाति या धर्म या राष्ट्रीयता के आधार पर उन्मूलित किया, वह किसी भी प्रकार शोभनीय नहीं था। प्रगतिशील और प्रजातांत्रिक विचारकों ने सर्वत्र उसकी निन्दा की और इस बात पर बल दिया कि मानव अधिकारों का अंतरराष्ट्रीयकरण होना चाहिए। कुल मिला कर यह राय बनी कि अंतरराष्ट्रीय शांति और प्रगति के लिए यह परम आवश्यक है कि अंतरराष्ट्रीय स्तर पर मानव अधिकारों के संरक्षण के पुख़्ता प्रबंध किए जाएं। इसीलिये संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर की प्रथम धारा में ही यह कहा गया कि संयुक्त राष्ट्र संघ का ध्येय मानव अधिकारों और प्रजाति, लिंग, भाषा और धर्म के आधार पर भेद किए बिना समस्त जनों की मूलभूत स्वतंत्रताओं के प्रति आदर को प्रोत्साहित और प्रोन्नत करना है। चार्टर में सम्मिलित होने के कारण ये प्राकृतिक अधिकार विधिक अधिकारों की श्रेणी में आ गए। संयुक्त राष्ट्र संघ के सभी सदस्य उक्त चार्टर पर हस्ताक्षर करने के कारण मानव अधिकारों के पालन और संरक्षण के लिये बाध्य हैं।

यद्यपि यह सही है कि मानव जीवन और मानव प्रतिष्ठा की युगों–युगों से विभिन्न

मानव–समाजों में अवहेलना होती रही है और इस कारण समाज के शक्ति संपन्न लोग निर्बल और असहाय लोगों का शोषण और उत्पीड़न करते रहे हैं, फिर भी कई समाजों ने अठारहवीं–उन्नीसवीं शताब्दी में अपने राष्ट्रीय संविधानों में मानव के प्राकृतिक अधिकारों को विधिक अधिकारों का रूप दिया ताकि समाज से शोषण मिट सके और समरसता स्थापित हो सके। द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति के बाद, और संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना के फलस्वरूप, एशियाई और अफ्रीकी देश ज्यों–ज्यों उपनिवेशवाद के शिकंजे से बाहर आते गए त्यों–त्यों उनके नए संविधानों में मानव अधिकारों का समुचित उल्लेख भी होने लगा। सच तो यह भी है कि इन देशों के नेतृत्व ने उपनिवेशवाद के विरुद्ध अपने संग्राम में मानव अधिकारों को एक मुख्य मुद्दा बनाया और उपनिवेशवाद से मुक्ति को एक मूलभूत मानव अधिकार घोषित किया। उदाहरण स्वरूप स्वतंत्र भारत के संविधान में मूलभूत अधिकारों (फंडामेन्टल राइट्स) पर पूरा एक अध्याय है। संविधान यह निदेशित करता है कि राज्य कोई ऐसा क़ानून न बनाए जिससे इन मूलभूत अधिकारों का हनन होता है। यदि किसी नागरिक को, या समूह विशेष को लगता है कि सरकार की कोई नीति या विधि मूल अधिकारों पर प्रहार करती है तो देश के सर्वोच्च न्यायालय से न्याय की याचना की जा सकती है।

वैधानिक दृष्टि से यह प्रत्येक राज्य का उत्तरदायित्व है कि राज्य के नागरिकों के मानव अधिकारों की गारंटी दे और उनकी रक्षा करे। इसी कारण किसी एक राज्य के आंतरिक मामलों में अन्य राज्यों का हस्तक्षेप सिद्धांततः वर्जित होता है। ऐसी स्थिति में कोई भी राज्य यदि निरंकुश शासक के अधीन हो तो वैधानिक व्यवस्था के बावजूद भी मानव अधिकारों का हनन कर सकता है। वस्तुस्थिति भी यही है। संयुक्त राष्ट्र के सदस्य होते हुए भी कई राज्यों में निरंतर मानव अधिकारों का हनन होता रहता है। इनकी जानकारी मिलने पर अंतरराष्ट्रीय समुदाय अपनी चिन्ता प्रकट कर सकता है, और अंतरराष्ट्रीय मंच पर उसकी चर्चा भी की जा सकती है किन्तु देखा यह गया है कि कोई भी राज्य अंतरराष्ट्रीय जाँच के लिये तैयार नहीं होता। इसे बाहरी हस्तक्षेप और राज्य की संप्रभुता को चुनौती के रूप में मान कर सदस्य राष्ट्र इसका विरोध करते हैं।

इन्हीं कारणों से अंतरराष्ट्रीय और राष्ट्रीय स्तर पर मानव अधिकारों के संबंध में अनेकों स्वयंसेवी संगठन, जिन्हें ग़ैर–सरकारी संगठन या एन जी ओ (नॉन गवर्नमेन्टल आर्गेनाइजेशन) की संज्ञा दी गई है, कार्यरत हैं। विश्वस्तर पर ऐसी एक संस्था 'एम्नेस्टी इंटरनेशनल' है। यह संस्था अपनी विभिन्न शाखाओं के माध्यम से मानव अधिकारों के उल्लंघन और हनन के समस्त मामलों के बारे में जानकारी एकत्र करती है और प्रतिवर्ष एक प्रतिवेदन तैयार करती है। इस प्रतिवेदन में एक सारणी प्रत्येक देश की मानव अधिकार संबंधी उपलब्धियों और उपेक्षाओं को प्रस्तुत करती है। इस प्रकार मानव अधिकार हनन के मामले सार्वजनिक हो जाते हैं और इस माध्यम से प्रत्येक राज्य की छवि भी परिलक्षित होती है। स्वदेशी स्वयंसेवी संगठन भी इस दिशा में सक्रिय रहते हैं।

चूँकि ये संगठन मुख्य रूप से सरकारों द्वारा मानव–अधिकारों की उपेक्षा या अवहेलना के मामलों पर जोर देते हैं, इन संगठनों को प्रतिष्ठान–विरोधी अर्थात् एंटी–इस्टेब्लिसमेंट घोषित

कर दिया जाता है। एक अन्य परिणाम यह भी हुआ है कि मानव अधिकारों को राज्य और नागरिक के बीच होने वाली प्रक्रियाओं के सीमित परिप्रेक्ष्य में ही देखा जाने लगा है। क़ानून और व्यवस्था बनाए रखने के लिये राज्य की जो भी कार्यवाही होती है, उसे मानव अधिकार की संदर्भ परिधि में ही देखा जाता है और सरकार द्वारा की गई ज़्यादतियों की आलोचना की जाती है। यह कहा जाता है कि जिनके पास मानव अधिकारों की संरक्षा का दायित्व है, वे ही इन अधिकारों की अनदेखी करते हैं। यही कारण है कि मानव–अधिकारों को न्यायालयों, विधिकर्मियों, और पुलिस विभाग के संदर्भ में परीक्षित किया जाता रहा है। यह एक संकीर्ण दृष्टिकोण है। मानव अधिकारों को एक व्यापक परिप्रेक्ष्य में देखने की आवश्यकता है।

किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि राज्य द्वारा की गई ज़्यादतियों को नज़रअंदाज़ कर दिया जाए। यह सच है कि पिछले पचास वर्षों में अधिकांश मामले राज्य सरकारों द्वारा किए गए मानव अधिकारों के हनन के ही सामने आए हैं।

मानव अधिकारों को दो भागों में वर्गीकृत किया जा सकता है। पहला, वे जो नागरिक और राजनीतिक अधिकारों से संबंधित हैं, तथा दूसरा, वे जो आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अधिकारों से संबंधित हैं। पहले वर्ग में सम्मिलित किये जाने वाले अधिकार ये हैं :–

(i) व्यक्ति के जीवन, स्वतंत्रता और सुरक्षा के अधिकार
(ii) यातना और दासता से मुक्ति
(iii) राजनीतिक सहभागिता
(iv) संपत्ति का अधिकार
(v) विवाह का अधिकार
(vi) विचार, राय, अभिव्यक्ति, अंतरात्मा और धर्म की स्वतंत्रता
(vii) संगठित होने और सभा आदि करने की स्वतंत्रता।

दूसरे प्रकार के अधिकार ये हैं:

(i) काम करने का अधिकार
(ii) समुचित जीवन स्तर
(iii) शिक्षा का अधिकार
(iv) अपनी संस्कृति के अनुसार जीने का अधिकार

इन दो वर्गों के अधिकारों के लिये संयुक्त राष्ट्र संघ ने दो प्रसंविदा (कॉवेनेन्ट्स) तैयार किए जो 16 दिसम्बर 1966 की महासभा में पारित होकर अपनाए गए। इनके नाम क्रमश: 'इंटरनेशनल कॉवेनेन्ट ऑन इकॉनामिक, सोशल एंड कल्चरल राइट्स' तथा इंटरनेशनल कॉवेनेन्ट ऑन सिविल एंड पालिटिकल राइट्स हैं। इसके साथ ही एक वैकल्पिक उपसंधि (प्रोटोकॉल) सिविल और राजनीतिक अधिकारों के लिए भी अपनाया गया। इन प्रसंविदाओं के पारित होने से अंतरराष्ट्रीय अधिनियम (इंटरनेशनल बिल) को अतिरिक्त बल मिला। यह ज्ञातव्य है कि प्रसंविदा (कॉवेनेन्ट) एक प्रकार की संधि पत्र है जिस पर हस्ताक्षर करने वाले राज्य क़ानूनी

रूप से उनका पालन करने के लिये बाध्य होते हैं। ये प्रसंविदा 1966 में पारित तो हुए किन्तु 1976 में जाकर ही क्रियान्वित हो सके क्योंकि इनके क्रियान्वयन की आवश्यक शर्त यह है कि कम से कम पैंतीस सदस्य–राष्ट्र उन्हें अनुसमर्थन दें। सन् 1989 तक सतासी (87) राष्ट्रों ने प्रथम प्रसंविदा को, और बयानवे (92) राष्ट्रों ने द्वितीय प्रसंविदा को अनुसमर्थन दे दिया था। दोनों ही प्रसंविदा को भारत का अनुसमर्थन प्राप्त है।

इन प्रसंविदाओं की धारा 28 में इस बात की व्यवस्था है कि एक मानव अधिकार समिति गठित की जाए जिसमें अठारह विशेषज्ञ व्यक्तिगत रूप से सदस्य होंगे। यह समिति राज्यों द्वारा समय समय पर भेजे गये प्रतिवेदनों को जाँचती है, किसी राज्य द्वारा अन्य राज्य पर लगाए गए आरोपों और शिकायतों पर विचार करती है, तथा व्यक्तियों द्वारा राज्यों के विरुद्ध दर्ज की गई शिकायतों को ग्रहण करती है।

प्रसंविदाओं की भाँति ही संयुक्त राष्ट्र संघ की विभिन्न इकाइयों द्वारा कई अभिसमय (कन्वेंशन) भी मानव अधिकारों के संबंध में अंगीकृत किये गये हैं। इन्हें अल्पकालिक संधि माना जा सकता है। ऐसा ही एक अभिसमय जनसंहार (जीनोसाइड) के विषय में है। दूसरा प्रजातंत्रीय भेद के सभी रूपों के उन्मूलन के लिये है।

यूनेस्को की भूमिका

उपर्युक्त परिचय से यह तो स्पष्ट हो जाता है कि मानव–अधिकार संबोध का क्षेत्र बड़ा व्यापक है और इसमें संयुक्त राष्ट्र संघ से संबद्ध समस्त एककों के लिये अपने–अपने उत्तरदायित्व हैं। यूनेस्को भी संयुक्त राष्ट्र संघ की ही एक संस्था है जिसका कार्य–क्षेत्र शिक्षा, विज्ञान तथा समाज विज्ञान एवं संस्कृति और संचार है। इसी कारण यूनेस्को ने 1962 में शिक्षा में भेदभाव को रोकने के लिए एक अभिसमय पारित किया। इसी प्रकार अध्यापकों की स्थिति और सांस्कृतिक संपदा के संबंध में भी कई प्रस्ताव यूनेस्को की महासभा में पारित होते रहे हैं। उदाहरण के लिये अंतरराष्ट्रीय सद्‌भाव, सहकार और शांति के लिए अनुशास्ति (रिकमेन्डेशन), मानव अधिकार और मूलभूत स्वतंत्रताओं के विषय में शिक्षण, प्रजाति और प्रजातिगत पूर्वाग्रहों के विरुद्ध घोषणा।

मानव अधिकारों की घोषणा की 30वीं जयन्ती के अवसर पर यूनेस्को ने सन् 1978 में वियना में मानव अधिकारों के अध्यापन के संबंध में एक अंतरराष्ट्रीय सम्मेलन आयोजित किया। इस सम्मेलन की एक उपलब्धि यह रही कि एशिया के कई देशों में विश्वविद्यालयों ने मानव अधिकार शिक्षा के प्रसार के लिये केन्द्र स्थापित किए। वकीलों की संस्था लॉ–एशिया ने मानव अधिकारों से संबद्ध एक स्थायी समिति गठित की। समाजविज्ञान के क्षेत्रीय सलाहकार के रूप में मुझे मानव अधिकारों के शिक्षण के प्रसार के लिये कार्य करने का अवसर मिला। कई देशों में मानव अधिकार दिवस के अवसर पर संगोष्ठियाँ, प्रदर्शनियाँ और प्रतियोगिताएँ आयोजित की गईं। बैंकांक से मेरे कार्यालय द्वारा *इंटरनेशनल लॉ* शीर्षक से एक न्यूज़लेटर प्रकाशित होता रहा। दिल्ली में 1982 मैं यूनेस्को और संयुक्त राष्ट्र युनिवर्सिटी के संयुक्त तत्वाधान में इंडियन नेशनल सेंटर फॉर ह्युमन राइट्स एज्युकेशन एंड रिसर्च (जिसके प्रधान

डॉ. लक्ष्मीमल्ल सिंघवी थे) एक एशियाई सेमिनार आयोजित किया गया। दिल्ली में ही सन् 1990 में मानव अधिकारों का तृतीय विश्व सम्मेलन भी सम्पन्न हुआ।

यूनेस्को की यह मान्यता रही है कि मानव अधिकारों के संबोध को प्रचारित करने के लिए यह आवश्यक है कि उसका शिक्षण हो, इस पर समाज वैज्ञानिक शोध हो, और क्षेत्रीय स्तर पर इस विषय पर कार्य करने वाली शोध संस्थाओं और स्वयंसेवी संस्थाओं के बीच सहकार स्थापित हो। यही कारण है कि यूनेस्को ने मानव अधिकार पर पाठ्यपुस्तकें और अध्यापन सामग्री भी तैयार करवाई और प्रकाशित की। फलस्वरूप आज कई विश्वविद्यालयों में मानव अधिकारों पर विशेष प्रशिक्षण की सुविधाएँ बन पाई हैं। भारत में भी राजनीतिशास्त्र के विभागों में जहाँ "अंतरराष्ट्रीय संबंध" पढ़ाए जाते हैं, मानव अधिकारों पर भी व्याख्यान दिए जाते हैं। इतना होने पर भी यह मानना पड़ेगा कि इस क्षेत्र में अच्छे शोध का अभाव है।

अधिकांश लेखन केवल अधिकारों की विभिन्न धाराओं की व्याख्या तक सीमित हैं, या फिर मानव अधिकारों के इतिहास पर लेखक भी अधिकांशतः वे हैं जो क़ानून से जुड़े हैं (जैसे वकील या न्यायाधीश) या फिर पुलिस विभाग से पत्रकार और स्वयं सेवी संस्थाओं के लोग मानव अधिकार के हनन वाली घटनाओं को प्रकाश में लाने के लिये अपनी कलम उठाते हैं और इस कारण उनके आलेख वस्तुपरक न हो कर राजनीतिक पूर्वाग्रहों से ग्रसित रहते हैं। कतिपय दार्शनिकों और धर्मानुयायियों ने भी मानव अधिकारों के संबोध पर लिखा है। इन रचनाओं का बौद्धिक और ऐतिहासिक महत्व तो है किन्तु वे आम नागरिक को मानव अधिकारों के प्रति जागरूक होने में अधिक सहायता नहीं करती।

मानव अधिकार की चर्चा कोई फ़ैशन की चीज़ नहीं है। यह भी अब स्थापित हो चुका है कि मानव अधिकार की अवधारणा प्रायः सभी समाजों, संस्कृतियों और धर्मों में पाई जाती है। ढेरों परंपराओं और विचारधाराओं के परीक्षण के बाद ही मानव अधिकार का संबोध अपने वर्तमान स्वरूप में ढाला गया है इसे पाश्चात्य संस्कृति की उपज कहकर टाल देना भारी भूल होगी। मानव–मात्र के मंगल के लिए यह आवश्यक है कि इन मूलभूत अधिकारों की रक्षा हो। प्रत्येक नागरिक को इन अधिकारों के प्रति सजग कराना हम सभी का कर्त्तव्य है।

मानव अधिकार एवं बुद्धिजीवी वर्ग : कुछ संकेत

प्रो. विवेक मिश्र

अपनी प्राकृतिक व मौलिक आवश्यकताओं तथा अभिलाषाओं के संरक्षण के प्रति मनुष्य आदिकाल से सचेत और प्रयत्नशील रहा है। उदाहरण के लिए व्यक्ति अपने जीवन के लिए स्वतंत्रता, सुरक्षा, पोषण, प्रतिरक्षा आदि के लिए सदैव जागरूक रहा है ऐसी आवश्यकताओं को प्राचीन समाज द्वारा कर्तव्यों, अधिकारों व नैतिक बाध्यताओं के माध्यम से संरक्षित रखने का प्रयास भी किया गया। धार्मिक उपदेशों, संहिताओं, परंपराओं ने समाज के प्रारंभिक विकास–स्त्रोत का कार्य किया। गीता, .कुरान, बाईबल आदि धार्मिक ग्रंथों ने मूलभूत मानव अधिकारों को सर्वप्रथम मान्यता प्रदान की। राजनैतिक दृष्टि से इन अधिकारों को मान्यता ब्रिटेन के मैग्ना कार्टा से शुरू होकर मुख्य रूप से अमरीकी व फ्रांसीसी आंदोलनों के उपरांत प्राप्त हुई। तत्पश्चात् इन मूल्यों को लगभग दो शताब्दियों तक लोकतांत्रिक राज्यों की सैद्धान्तिक शब्दावली तक ही सीमित रखा गया, इनका क्रियान्वयन दैनिक व्यवहार में नहीं हो सका। द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान हुए व्यापक पाशविक व्यवहार ने अंतरराष्ट्रीय जनमानस को गंभीर चिंतन के लिए बाध्य किया। उनके समक्ष मूल चुनौती थी कि किस प्रकार इन नैतिक मूल्यों को पुनः प्रभावी रूप से स्थापित किया जाए, साथ ही विश्व की जनता को इनसे परिचित कराते हुए राष्ट्रों को इनके संरक्षण के लिए कैसे बाध्य किया जाए। इस दिशा में मानव अधिकारों का विश्व–व्यापी घोषणापत्र एक ऐतिहासिक कदम था, जिसे संयुक्त राष्ट्र की महासभा ने 10 दिसम्बर 1948 को सर्वसम्मति से अपनाया था। आने वाले वर्षों में यह घोषणापत्र मानव अधिकारों तक सीमित न रहते हुए मानव जाति के लिए एक महत्वपूर्ण राजनैतिक दस्तावेज़ बन गया।

अंतरराष्ट्रीय मंच पर, इस घोषणा पत्र ने संयुक्त राष्ट्र के कार्यों को दिशा–निर्देश देने के साथ ही उपयुक्त दार्शनिक आधार प्रस्तुत किया। संयुक्त राष्ट्र का व्यवहार कैसा हो, वरीयताएँ कैसी हों, कार्यक्षेत्र क्या हो, इत्यादि को रेखांकित करने में आधार प्रदान किया। मानव अधिकार के विषय में ही संयुक्त राष्ट्र ने तक़रीबन साठ ऐसे उपकरणों का निर्माण किया, जो मानव अधिकार के सूक्ष्म पक्षों को परिभाषित करते हैं। इतना ही नहीं मानव अधिकारों की प्रकृति में कई पड़ाव देखने को मिले और इसके संदर्भ में वरीयताओं का युग भी देखने को मिला।

सन् 1948 के पश्चात् जिन राज्यों को स्वतंत्रता प्राप्त हुई, उन्होंने अपने राष्ट्र निर्माण की यात्रा का प्रारंभ मानव अधिकार जैसे मूल्यों को अपनाने के साथ किया, अपने नव–निर्मित संविधानों में उन्हें समुचित स्थान देकर तथा अपने समस्त अन्य कार्यों के लिए एक प्रेरणा–स्रोत के रूप मे लेकर। कहने का तात्पर्य यह कि विश्व इतिहास में अन्य कोई दस्तावेज़ ऐसा नहीं हुआ जिसने इतना व्यापक व दूरगामी प्रभाव डाला हो।

इस विषय से जुड़ी एक सच्चाई और भी है। आज जब हम अपने चारों तरफ देखते हैं तो हमें अन्याय हिंसा, क्रूरता, अमानवीय कृत्य, असहिष्णुता की घटनाओं का प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से सामना करना पड़ता है। समाज में आज भी यातनाओं का प्रचलन है, धर्मांधता का नृत्य होता है, आम व्यक्ति का अपहरण किया जाता है व प्राण दंड दिया जाता है, सर्वसाधारण पर जानलेवा हमले होते हैं जिसमें महिलाओं तथा बच्चों तक को नहीं बख़्शा जाता। दिन–प्रतिदिन ऐसी घटनाओं से रूबरू होने पर मस्तिष्क में सहज ही कुछ प्रश्न उठ खड़े होते हैं। क्या ऐसी घटनाएँ यह संकेत नहीं देती कि मानव अधिकारों का विश्वव्यापी घोषणापत्र अपने प्राथमिक उद्देश्यों की प्राप्ति में असफल हो गया है? क्या घोषणापत्र की प्रासंगिकता समाप्त हो गई है? क्या घोषणापत्र में लिखे उपबंध इतने आदर्शवादी हैं कि उनकी सफलता संभव नहीं? घोषणापत्र के निर्माताओं से कहीं कोई भूल या चूक तो नहीं हो गई? अनेक ऐसे प्रश्न, जिनका आना निराधार नहीं है, हमारे मन को उद्वेलित करते हैं।

उपर्युक्त प्रश्नों को यदि हम थोड़ी देर के लिए यहीं छोड़ दें और घोषणापत्र की उपलब्धियों व अच्छाइयों पर गौर करें तो संतोष की एक विशाल किरण हमें चकाचौंध अवश्य करेगी। निरानंद परिस्थितियों के बावजूद घोषणापत्र अपने मानवीय पक्ष से मुक्त नहीं हो सका है। दुनिया के तमाम राज्यों ने राष्ट्रीय व क्षेत्रीय स्तर पर मानव अधिकार आयोगों का गठन किया है, साथ ही वह उसके प्रचार–प्रसार, शिक्षा व संरक्षण के लिए वचनबद्ध है। एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि यह रही है कि समाज के अधिकांश वर्गों में आज इस विषय पर सोच एवं चिंतन का विकास हुआ है। आम व्यक्ति में एक प्रकार की क्रांति सी देखने को मिलती है।

ऐसे दो–तरफा माहौल में एक समाजवैज्ञानिक शांत नहीं रह सकता। सच्चाई को जानने की जिज्ञासा सहज ही जाग्रत होती है। इस क्रम में लेखक द्वारा एक लघु शोध कार्य किया गया, जिसमें यह पता लगाने की कोशिश की गई कि जबलपुर शहर के बुद्धिजीवियों में मानव अधिकारों के संदर्भ में कितनी जागरूकता व जानकारी है। वर्तमान लेख उस अध्ययन के दौरान एकत्रित प्राथमिक आँकड़ों पर आधारित है। विषय के चयन में दो तर्क प्रभावी थे: सर्वप्रथम, बुद्धिजीवी वर्ग समाज का अग्रणी वर्ग होता है और ऐसे मूल्यों के बृहत्तर प्रवाह में वह केंद्रीय भूमिका रखता है। इसके साथ ही यदि जागरूकता व जानकारी से व्यक्ति सशक्त है तो संरक्षण का वातावरण सहज ही सृजित होता है

अध्ययन की सीमाओं को देखते हुये चार व्यवसायों से जुड़े व्यक्तियों को मैंने बुद्धिजीवी वर्ग में सम्मिलित किया, जिसमें शिक्षक (विश्वविद्यालय व महाविद्यालयों से जुड़े हुए), वकील, डॉक्टर तथा अधिकारी वर्ग (जिसमें राज्य पुलिस, सामान्य प्रशासन तथा अन्य प्रशासन से जुड़े व्यक्तियों) को रखा हैं। वैज्ञानिक पद्धति के आधार पर प्रत्येक व्यवसाय से 50–50 उत्तरदाताओं

का चयन कर कुल 200 व्यक्तियों के *सैंपल* से पूर्व निर्धारित प्रश्नावली के माध्यम से जानकारियों को एकत्रित किया गया है।

बुद्धिजीवियों में मानव अधिकारों के विषय में जागरूकता का स्तर क्या है, इसको जानने के लिए प्रश्नावली में कुछ प्रश्न रखे गए थे। सबसे पहले एक सीधा–सा प्रश्न था कि क्या उन्होंने मानव अधिकारों के बारे में सुना है या जानते हैं? इस प्रश्न के जवाब में सभी का यह मानना था कि वह इस विषय से अवगत हैं। 'हाँ' और 'नहीं' से युक्त इस प्रश्न का जवाब सभी ने 'हाँ' में दिया, अर्थात् प्रथम दृष्ट्या हम यह कह सकते हैं कि जहां तक संबोध के परिचय का प्रश्न है, बुद्धिजीवी वर्ग आज इससे परिचित हो चला है।

बात को आगे बढ़ाते हुए अगला प्रश्न मानव अधिकारों की पहुँच को लेकर था। मैंने यह जानने की कोशिश की कि इन अधिकारों की उपयोगिता क्या सभी के लिए है अथवा समाज के कुछ गिने–चुने विशेष वर्गों के लिए ही।

तालिका क्र. 1

प्रश्नः मानव अधिकारो का संबंध सभी लोगों से है अथवा समाज के कुछ वर्गों से है?

	सभी के लिए	विशेष वर्ग हेतु	कुल
शिक्षक	42	08	50
वकील	36	14	50
डाक्टर	31	19	50
अधिकारी	39	11	50
कुल	148 / 74%	52 / 26%	200

हम सभी जानते हैं कि इस विषय का संबंध व महत्त्व समाज के हर व्यक्ति के लिए है। इसका मूल दर्शन समानता को लेकर चलता है, इसमें भेदभाव–रहित समाज के निर्माण की बात है। घोषणापत्र के दो अनुच्छेद (क्रमांक दो व सात) विभेद के लिए मानक नियमों का कार्य करते हैं। पहला अनुच्छेद घोषणापत्र के अनुपालन में अविभेद से संबंध रखता है, जबकि दूसरा विभिन्न राष्ट्रीय विधियों के क्रियान्वयन में अविभेद को सुरक्षित करता है। मानव अधिकारों का मूल सिद्धान्त अविभेद पर आधारित है, किंतु इस प्रश्न के आँकड़े चौंकाने वाले हैं। छब्बीस फीसदी लोगों का यह मानना है कि इन्हें कुछ विशेष वर्गों के लिए ही बनाया गया है। मेरे अनुसार यह वह प्रतिशत है, जिसे इस विषय के केवल नाम का भान है, उसके आगे कोई विशेष जानकारी नहीं है, लेकिन संतोष का पक्ष यह कि चौहत्तर फीसदी लोगों को इसकी जानकारी है।

उपर्युक्त दो प्रश्नों के आकड़ों को हम सकारात्मक वातावरण के निर्माण का प्राथमिक सोपान मान सकते हैं; किंतु बात इतने से ही नहीं बन जाती। इस पक्ष की गहराई व सच्चाई

के आकलन के लिए तीन प्रश्न और दिए गए थे, जिनका संबंध मध्यप्रदेश मानव अधिकार आयोग, राष्ट्रीय आयोग तथा विश्वव्यापी घोषणा की जानकारी को लेकर था। इस प्रश्न से प्राप्त आँकड़ों को एक तालिका के माध्यम से रखा जा सकता है। (तालिकाओं के प्रस्तुतीकरण का आशय कतिपय यह नहीं है कि पाठक को आँकड़ों के जाल में समेट कर रख दिया जाए, बल्कि मेरा सोचना है कि तालिकाओं के माध्यम से विषय को सरलता से समझा जा सकता है)

तालिका क्र. 2

प्रश्न: क्या आपने विश्वव्यापी घोषणा पत्र/राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग/मध्य प्रदेश मानव अधिकार आयोग के बारे में सुना है?

	विश्वव्यापी घोषणा पत्र		राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग		म. प्र. मानव अधिकार आयोग	
	हाँ	नहीं	हाँ	नहीं	हाँ	नहीं
शिक्षक	25	25	26	24	39	11
वकील	24	26	32	18	33	17
डाक्टर	10	40	14	36	21	29
अधिकारी	19	31	28	22	36	14
कुल	**78**	**122**	**100**	**100**	**129**	**71**

इन प्रश्नों के जवाब से यह पता चलता है कि स्थानीय स्तर पर मौजूद व्यवस्थाओं/संस्थाओं के बारे में भी जानकारी आज सभी को नहीं हो पाई है। करीब पैंतीस फीसदी बुद्धिजीवी मध्यप्रदेश मानव अधिकार आयोग के बारे में नहीं जानते, पचास फीसदी राष्ट्रीय आयोग तथा इकसठ फीसदी विश्वव्यापी घोषणापत्र के विषय में ज्ञान नहीं रखते हैं। भारत के दोनों आयोग अपने क्षेत्र में सक्रिय भूमिका निभा रहे हैं। अधिकारों के विषय में जागरूकता का प्रश्न हो, उसकी शिक्षा हो, उल्लंघनों के विषय में छानबीन हो या संस्थाओं का अध्ययन (जहाँ उल्लंघनों की संभावना हो), ये आयोग अपनी जिम्मेदारियों का निर्वहन कर रहे हैं। यूँ तो व्यक्ति को प्राथमिक तौर पर अपने निकटतम निकायों का ज्ञान अधिक लाभकर होता है, किंतु वहाँ भी अच्छी ख़बर नहीं है। विश्वव्यापी घोषणापत्र ने ही राज्यों को प्रेरित कर उन्हें अपने यहाँ आयोग इत्यादि बनाने पर सहमत किया, उसी से इस समस्त धारा का प्रवाह हुआ और उसी की जानकारी सबसे कम है, मात्र उनतालीस फीसदी लोग इसे जानते हैं, या यूं कहें कि इसके बारे में सुना है। जहाँ तक राष्ट्रीय आयोग की बात है वहां तो बराबरी के हिस्से पर बात अटकी है– पचास फीसदी जानते हैं और पचास नहीं। बुद्धिजीवियों के ज्ञान के स्तर पर खुलासा यहाँ से होता है।

विश्वव्यापी घोषणापत्र में तीस अनुच्छेद अधिकारों के रूप में मौजूद हैं और यदि उनका

सहूलियत की दृष्टि से वर्गीकरण किया जाए तो पांच वर्गों में रखा जा सकता है : सिविल, राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक व सांस्कृतिक। जून 1993 को वियना में संपन्न हुए मानव अधिकारों के विश्व सम्मेलन में इस विषय को एक नवीन दिशा प्राप्त हुई। सम्मेलन में यह स्वीकार किया गया कि 1948 में अपनाए गए सभी मानव अधिकारों का क्षेत्र समस्त विश्व है, वे अविभाज्य है, एक दूसरे पर निर्भर हैं, आपस में संबंधित हैं तथा एक दूसरे के सहयोगी हैं। सम्मेलन इस बात पर भी सहमत हुआ कि मानव अधिकारों का अधिकतम संरक्षण एक लोकतांत्रिक समाज में संभव है।

चूँकि मानव अधिकारों का पर्याय विश्वव्यापी घोषणा पत्र हैं, ऐसे में जिस किसी को भी घोषणा पत्र की विषय वस्तु का ज्ञान है, वह पाँच विकल्पों में चूक नहीं कर सकता। इसी बात को परखने के लिए प्रश्न यह रखा गया कि क्या उन्हें यह मालूम है कि मानव अधिकारों के तहत कौन–कौन से अधिकार आते हैं ? प्रश्न के साथ चूँकि विकल्प दे दिए थे तो बात मुश्किल नहीं थी।

तालिका क्र. 3

मानव अधिकारों के तहत कौन–कौन से अधिकार आते हैं?

क्रमांक	शिक्षक	वकील	डाक्टर	अधिकारी	कुल	प्रतिशत
सिविल अधिकार	25	23	25	38	111	55.5%
राजनैतिक अधिकार	20	12	13	08	53	26.5%
आर्थिक अधिकार	.	.	.	.	.	00%
सांस्कृतिक अधिकार	.	.	.	.	.	.00%
सामाजिक अधिकार	.	10	12	04	26	13%
उपरोक्त सभी	5	5		.	10	5%
कुल	50	50	50	50	200	100 %

उपर्युक्त प्रश्न के आँकड़े किसी की भी आँखे खोलने के लिए पर्याप्त हैं। मात्र पांच फीसदी लोग यह जानते हैं कि उपरोक्त सभी अधिकार इसमें आते हैं। पंचानवे प्रतिशत लोग केवल आंशिक विषय को ही संपूर्णता की संज्ञा दे रहे हैं। बुद्धिजीवी वर्ग आज भी सिविल व राजनैतिक अधिकारों को ही मानव अधिकारों की तरह देखता है। घोषणा पत्र के निर्माण के समय से ही एक विवाद सतत् रूप से चल रहा है, पश्चिमी राज्यों की उदारवादी मान्यताओं व मार्क्सवादी धारणाओं के बीच मतभेद। मार्क्सवादियों के अनुसार आर्थिक एवं सामाजिक अधिकारों का महत्व अधिक है। सिविल व राजनैतिक अधिकारों के प्रभावी होने के लिए वे सर्वप्रथम व्यक्ति के आर्थिक विकास व उसकी संपन्नता को प्राथमिकता देते हैं। पश्चिमी उदारवादियों की प्राथमिकताएँ ठीक इसके विपरीत हैं – वह सिविल व राजनैतिक अधिकारों पर ही बल देते हैं। वे आर्थिक व सामाजिक अधिकारों को अधिकारों की श्रेणी में ही नहीं रखते, यह अधिकार तो मात्र अभिलाषाओं व लक्ष्यों की अभिव्यक्तियाँ हैं, जिन पर राज्य द्वारा कार्रवाई

करना व्यर्थ है। हमारे बुद्धिजीवी आज इसी पश्चिमी विचारधारा के समर्थक नजर आते हैं।

यह वही बुद्धिजीवी वर्ग है जिसने शुरूआत में एक स्वर में यह स्वीकार किया था कि वह इस विषय को जानते हैं, लेकिन वह अधिकांशतः सतही जानकारी का शिकार है। जब बात गहराई की आई तो नज़ारा और था। मानव अधिकारों की तमाम उपलब्धियों के साथ यह विडंबना रही है कि अधिकांश विकासशील देशों की जनता आज भी इस मूल प्रत्यय से अनभिज्ञ व अपरिचित है। भारत की जनता की गिनती भी इन्हीं देशों में होती है। क्यों न हो, जब यहां के बुद्धिजीवियों में जानकारी का आलम ऐसा है तो आम जनता का क्या दोष। किसी ने सत्य ही कहा है कि अत्याचार इसलिए नहीं होता, क्योंकि अत्याचारी ताकतवर होता है, बल्कि वह इसलिए होता है, क्योंकि जिन पर अत्याचार होता है, वह स्वयं यह नहीं जानते कि उन पर हो रहा व्यवहार अत्याचार है। आम जनता आज इस विषय के बारे में नहीं जानती है।

उपर्युक्त तथ्य की पुष्टि एक अन्य प्रश्न के माध्यम से भी मिलती है। एक प्रश्न यह किया गया कि इस विषय की जानकारी का उनका स्रोत क्या है, तो वहाँ भी पाँच फीसदी ही लोग ऐसे थे, जिन्होंने यह स्वीकार किया कि किताबों व लेखों के माध्यम से उन्हें जानकारी हासिल हुई, शेष या तो टी.वी., रेडियों या समाचार पत्रों पर आश्रित हैं। यह जो पाँच प्रतिशत है, उसे विषय की गहराई का अंदाजा है। मैं यहाँ यह नहीं कहना चाहता हूँ कि टी.वी. रेडियों आदि की भूमिका महत्वपूर्ण नहीं होती, किंतु हम सभी जानते हैं कि उनकी अपनी सीमाएँ होती हैं। विषय–विस्तार के लिए संचार माध्यम अपर्याप्त होते हैं।

तालिका क्र. 4

प्रश्नः मानव अधिकारों के विषय में जानकारी का स्रोत

क्रमांक	शिक्षक	वकील	डाक्टर	अधिकारी	कुल	प्रतिशत
समाचार पत्र	10	8	11	13	42	21%
टी.वी.	28	22	21	19	90	45%
रेडियो / वार्ता	04	17	18	13	52	26%
पुस्तक / लेख	5	2	.	3	10	05%
अन्य	6	1	.	2	6	03%
कुल 50	50	50	50	50	200	100:

भारतीय समाज में यह धारणा व्याप्त है कि मानव अधिकारों का उल्लंघन हमारे देश की पुलिस द्वारा होता है। संचार माध्यमों से ख़बर आती है कि समस्त अमानवीय माहौल के लिए यदि कोई ज़िम्मेवार है तो वह सुरक्षाकर्मी, पुलिस आदि ही हैं। बिना किसी आरोप के लोगों को बंदी बनाना, लॉकअप में यातनाएँ देना, कई बार तो ऐसे बंदियों का लापता हो जाना, या यूं कहें कि मार दिया जाना, ऐसी तमाम घटनाएँ आम नज़र आती हैं। दरअसल पुलिस वालों को तिरस्कार एवं भय की नज़र से देखा जाता है। गौर करें तो पता चलता है कि जिस पुलिस बल को हम मानव अधिकारों का संरक्षक मानते हैं वह स्वयं अमानवीय

व्यवहार की शिकार होती है और विडंबना यह कि वह इसकी गुहार भी कहीं नहीं कर सकते। पुलिस वालों की कार्य--शर्तें, प्रशिक्षण, सहूलियतें व अन्य परिस्थितियां इसके स्पष्ट उदाहरण हैं।

मानव अधिकारों के उल्लंघनों की सरकारी/ग़ैर सरकारी फ़ेहरिस्तों से पता चलता है कि मानव अधिकारों का उल्लंघन पुलिस द्वारा भी होता है, लेकिन यह कहना कि वही इसकी ज़िम्मेदार है एक एकांगी वक्तव्य होगा। इस बात का समर्थन बुद्धिजीवी वर्ग ने भी किया है।

तालिका क्रमांक . 5

प्रश्न: मानव अधिकारों के उल्लंघन के लिए ज्यादातर कौन जिम्मेदार रहता है?

	शिक्षक	वकील	डाक्टर	अधिकारी	कुल	प्रतिशत
पुलिस	7	9	10	8	34	17%
सरकारी नीतियां/ सरकारी अधिकारी	14	13	17	17	61	30.5%
राजनेता	4	3	2	3	12	6%
अशिक्षा	21	19	16	18	74	37%
आतंकवादी	3	4	2	2	11	5.5%
अन्य	1	2	3	2	0	8%
कुल	50	50	50	50	200	100%

यहाँ आश्चर्य की बात यह है कि सैंतीस फीसदी लोग यह मानते हैं कि उल्लंघनों की मूल जड़ अशिक्षा है। इस विषय पर दो मत नहीं हो सकते कि हमारी अधिकांश समस्याओं का आधार अशिक्षा ही है। संस्थाओं/व्यवस्थाओं के परिप्रेक्ष्य में देखा जाए तो पुलिस दल के सत्रह फीसदी की तुलना में तीस फीसदी लोगों का मत सरकारी अधिकारियों के पक्ष में है अर्थात् पुलिस से भी ज़्यादा अफ़सरशाही को गुनहगार करार दिया गया है। काफी मात्रा में यह सत्य भी है। हमें अपनी प्रचलित विचारधारा को बदलना होगा। मानव अधिकारों के संरक्षण के लिए हमें उन स्थानों पर केंद्रित होना पड़ेगा जिन्हें हम अनदेखा कर रहे हैं। इस प्रश्न के उत्तर में बुद्धिजीवियों ने वास्तविक परिस्थितियों के लगभग समीप अपने मत प्रस्तुत किए हैं। यह उनकी विश्लेषणात्मक प्रवृत्ति तथा सामान्य ज्ञान की प्रखरता का द्योतक है।

उपर्युक्त संकेतों के माध्यम से हमें अपने समाज में मानव अधिकारों की मौजूदा स्थिति का अंदाज़ा लगता है। इस विषय में परिस्थितियाँ यदि अनुकूल नहीं हैं तो हम इन्हें प्रतिकूल भी नहीं कह सकते। एक बात तो स्पष्ट दिखाई पड़ती है कि हमने इस संबोध से परिचित होने का मन बना लिया है। राजनेता हो या कार्यकर्ता, विधिवेत्ता हों या फ़रियादी, शिक्षक हो या छात्र, इस संदर्भ में हमें अपने प्रयासों को और अधिक कारगर बनाना होगा। सरकारीतंत्र

प्रयत्नशील है, ग़ैर–सरकारी संस्थाओं ने बिगुल बजा रखा है, आवश्यकता यदि है तो हम सभी को अपनी–अपनी कमर कसने की।

समाज में यदि परिवर्तन की धारा को मज़बूत करना है तो सबसे पहले हमें अपने परिवार में कार्य करना होगा। समाज की प्राथमिक इकाई परिवार हैं। समाज में आने वाला प्रत्येक सदस्य अपना मूल प्रशिक्षण परिवार में प्राप्त करता है। यदि परिवार में समानता, अभेदभाव, लोकतंत्र, आदि मूल्यों का प्रचलन होगा तो उनका विस्तार समाज में स्वभाविक तौर पर दृष्टिगत होगा। संस्थागत रूप से दी जा रही मानव अधिकारों की औपचारिक शिक्षा, प्रशिक्षण व प्रसार के साथ ही आवश्यकता यह भी है कि हम परिवार के स्तर पर जागरूक हों।

मानव की सर्वविदित विनाशक गति को पहचानते हुए भी यदि हमारा यह विश्वास था कि किसी नियमावली, संहिता या घोषणापत्र के माध्यम से हम मानव गरिमा के प्रति सम्मान को सुनिश्चित कर लेंगे तो यह एक अव्यवहारिक कल्पना थी। जिन महानुभावों ने विश्वव्यापी घोषणा पत्र का निर्माण किया, वह इस तथ्य से परिचित रहे होंगे। उन्हें यह मालूम होगा कि घोषणा पत्र के माध्यम से वह मानव जाति को एक आदर्श समाज के लिए प्रेरित कर रहे हैं, जिसकी पूर्णरूपेण प्राप्ति संभव नहीं, तथापि उन्हें मानव गति पर अटूट आस्था भी रही होगी। हमें उसी आस्था को साकार करना होगा।

मानवाधिकार, न्यायपालिका और पुलिस : भारतवर्ष के परिप्रेक्ष्य में एक विहंगम दृष्टि

राजेश प्रताप सिंह

"जिसको न निज गौरव तथा निज देश का अभिमान है।
वह नर नहीं है, पशु निरा और मृतक समान है।।"

कवि की उपर्युक्त पंक्तियाँ यह इंगित करती हैं कि व्यक्ति की निजता, उसका अपना व्यक्तित्व सर्वोपरि है। उसे इस पर गर्व होना चाहिए और इसकी रक्षा करनी चाहिए। निजता का अभिप्राय व्यक्ति की स्वतंत्रता से है चाहे वह आर्थिक हो, सामाजिक हो या अभिव्यक्ति से संबंधित हो।

व्यक्ति के इस अधिकार को हम 'मानवाधिकार' के नाम से भी जानते हैं। यदि हम इतिहास के पन्नों को पलटें तो पाएगें कि मानवाधिकार का विचार उतना ही पुराना है, जितनी मानव सभ्यता। प्रत्येक समाज का संचालन कुछ नैतिक मापदंडों पर होता है। समाज की निरंतरता बनाए रखने के लिए यह आवश्यक है कि इन नैतिक मूल्यों का पालन किया जाए तथा यदि कोई व्यक्ति इनका पालन नहीं करता है तो उसे नियमानुसार दण्ड दिया जाए। यही वह बिन्दु है जहां पर मानवाधिकार हेतु न्यायपालिका और पुलिस एक दूसरे के पूरक के रूप में कार्य करते हैं। पुलिस का कर्तव्य है कि मानवाधिकारों का उल्लंघन करने वालों को न्यायपालिका के समक्ष प्रस्तुत करे तथा न्यायपलिका का कर्तव्य है कि उसे उचित दण्ड दे जिससे मानव सभ्यता अबाध एवं अजस्र रूप से चल सके।

यहां पर यह समीचीन होगा कि हम यह समझ लें कि मानवाधिकार क्या है और वर्तमान सामाजिक परिप्रेक्ष्य में इसकी उपादेयता क्या है?

मानवाधिकार मानव संघर्ष की परिणिति है। जब से मनुष्य ने जन्म लिया और शनैः शनैः सामाजिक प्राणी बनने की ओर अग्रसर हुआ तभी से मानवीय मूल्यों के संरक्षण की बात सामने आई, क्योंकि बिना मानवीय मूल्यों के एक सभ्य समाज की परिकल्पना ही नहीं की जा सकती।

मानवाधिकार के वर्तमान स्वरूप को हम तीन पीढ़ियों में रख सकते हैं। वर्तमान मानव सभ्यता के प्रारम्भ में सामाजिक व्यवस्था प्रमुख रूप से कबीलाई संस्कृति या राजतंत्रात्मक थी जिस कारण दास प्रथा, बहुविवाह, सतीप्रथा आदि कुरीतियों का जन्म हुआ। इन कुरीतियों के विरोध में जब लोगों ने आवाज उठाई तब सामान्य जन को कुछ अधिकार देने की बात हुई। उदाहरण के तौर पर संयुक्त राज्य अमेरिका का 1776 का घोषणा पत्र या फ्रांस का घोषणा पत्र। ये सभी अधिकार मूल रूप से राजनैतिक एवं सामाजिक प्रकृति के हैं। इन्हें हम स्वतंत्रता से संबंधित मानवाधिकार कह भी सकते हैं। इनकी प्रकृति नकारात्मक है। मूलतः ये वे सभी अधिकार हैं जो सरकार को व्यक्ति की स्वतंत्रता को अवरूद्ध करने से रोकते हैं। उदाहरणस्वरूप भारतीय संविधान में प्रदत्त नागरिकों के मूल अधिकार।

दूसरी पीढ़ी में वे सभी अधिकार आते हैं जो सुरक्षा से संबंधित हैं। ये अधिकार आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक सुरक्षा प्रदान करते हैं। मानव अधिकारों की सार्वभौम घोषणा उन सभी सिद्धान्तों को स्वीकार करती है जो प्रथम एवं द्वितीय पीढ़ी के मानवाधिकारों के मूल में हैं।

तृतीय पीढ़ी के मानवाधिकार वर्तमान संघर्षों की उपज है। बढ़ती आबादी, भुखमरी, अशिक्षा, बेरोज़गारी के कारण उत्पन्न हुई परिस्थितियों में इन अधिकारों की परिकल्पना की गई। ये अधिकार पर्यावरण, संस्कृति एवं विकास से संबंधित हैं।

इस परिप्रेक्ष्य में हमें यह बात ध्यान रखनी होगी कि उपरोक्त सभी अधिकार एक दूसरे से इस प्रकार गुँथे हैं कि हम उन्हें अलग करके नहीं देख सकते और न ही हम यह कह सकते हैं कि अमुक अधिकार ज़्यादा महत्वपूर्ण और अमुक कम। वियना घोषणा पत्र में यह साफ़–साफ़ कहा गया है कि सभी मानवाधिकार सार्वभौम, अविभाज्य, एक दूसरे पर निर्भर एवं एक दूसरे से संयुक्त हैं। इसी घोषणा पत्र में यह भी कहा गया कि प्रजातंत्र ही एक मात्र ऐसी व्यवस्था है जो व्यक्ति के नागरिक, राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक अधिकारों को प्रदान कर सकता है। मानवाधिकार से संबंधित कई घोषणा पत्र एवं प्रसंविदाएँ जारी की गई हैं। जब से संयुक्त राष्ट्र संघ का अस्तित्व विश्व के पटल पर आया है, तब से इस क्षेत्र में अभूतपूर्व प्रगति हुई है। जो देश संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्य हैं तथा जिन्होंने संबंधित घोषणापत्रों पर दस्तख़त किए हैं वे सभी इन नियमों का पालन करने के लिए बाध्य हैं। इस क्षेत्र में कुछ प्रमुख प्रसंविदाएं एवं घोषणा पत्र निम्न हैं:--

1– मानवाधिकारों की सार्वभौम घोषणा, 10 दिसम्बर 1948।

2– सिविल एवं राज़नैतिक अधिकारों की अंतरराष्ट्रीय प्रसंविदा।

3– आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक अधिकारों की प्रसंविदा।

4– सिविल और राजनैतिक अधिकारों के वैकल्पिक प्रोटोकाल की अंतरराष्ट्रीय प्रसंविदा।

5– विकास के अधिकारों की घोषणा।

6– वियना घोषणा, 1993।

भारतीय संदर्भ में यदि हम मानवाधिकार को देखें तो पाएंगे कि भारतीय संविधान की

उद्देशिका, मूलभूत अधिकार, नीति निर्देशक तत्व, मूलभूत कर्तव्य, हाई कोर्ट एवं सर्वोच्च न्यायालय के रिट संबंधी अधिकार मूलरूप से मानवाधिकारों की सुरक्षा एवं सामान्य जन को मानवाधिकारों को प्रदान करने की भावना के साथ भारतीय संविधान में रखे गए। तुलनात्मक दृष्टि से देखें तो भारतीय संविधान मानवाधिकार की सार्वभौम घोषणा से लगभग दो वर्ष पूर्व से बनना शुरू हो गया था परन्तु उपर्युक्त घोषणा पत्र की प्रत्येक धारा भारतीय संविधान एवं अन्य अधिनियमों के किसी न किसी भाग में सन्निहित है। भारतीय संविधान के अनुच्छेद 21,22 एवं 32 वास्तव में मानवाधिकार के मेरुदण्ड हैं। अनुच्छेद 21 के अनुसार किसी भी व्यक्ति को बिना क़ानून के रोका नहीं जा सकता। यह व्यक्तिगत स्वतंत्रता से संबंधित है। व्यक्तिगत स्वतंत्रता एवं जीवन केवल क़ानूनी रूप से लिया जा सकता है। यह अधिकार केवल नागरिकों को ही नहीं वरन् प्रत्येक व्यक्ति को प्राप्त है। अनुच्छेद 22 में निरुद्धि एवं हिरासत के विरुद्ध व्यक्ति के मूलभूत अधिकार निहित हैं। अनुच्छेद 32 में सर्वोच्च न्यायालय में, संविधान में प्रदत्त मूल अधिकारों की अवहेलना पर; सीधे जाने का प्रावधान है और सर्वोच्च न्यायालय को यह भी अधिकार है कि वह स्वयं रिट के जरिए पीड़ित व्यक्ति को न्याय दिला सकता है। यदि न्यायालय जाने का ही अधिकार न हो तो सारे अधिकार व्यर्थ हैं, क्योंकि उनकी अवहेलना पर व्यक्ति को न्याय ही नहीं मिलेगा।

इन्हीं अनुच्छेदों के इर्द–गिर्द सर्वोच्च न्यायालय ने व्यक्ति की गरिमा को प्रतिष्ठित करने के लिए कई महत्वपूर्ण निर्णय दिए। उदाहरण स्वरूप प्रेम शंकर शुक्ला बनाम दिल्ली प्रशासन जिसमें हथकड़ी लगाने संबंधी दिशा–निर्देश एवं डी.के. बसु बनाम पश्चिम बंगाल राज्य का केस जिसमें हिरासत में लिए गए व्यक्ति के साथ की जाने वाली कार्रवाई का विवरण दिया गया है।

संविधान में मानवाधिकारों का पूरा वर्णन होने के बावजूद इस बात की आवश्यकता महसूस की गई कि एक स्वशासी संस्था की स्थापना की जाए जो मानवाधिकारों के सभी पहलुओं पर कार्य करे और सरकार के प्रति उसकी जवाबदेही न हो वरन् मानवाधिकारों के मामले में वह सरकार को सुझाव दे और जिसे मानना कम से कम सरकार की नैतिक बाध्यता हो।

इस बिंदु को दृष्टिगत रखते हुए 1993 में मानवाधिकार संरक्षण अधिनियम, 1993 के तहत 'राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग' की स्थापना हुई। इसी अधिनियम के तहत राज्यों में प्रदेशीय मानव अधिकार आयोग का गठन किया जा रहा है, यद्यपि अभी सभी प्रदेशों में मानव अधिकार आयोग का गठन नहीं किया जा सका है।

इस अधिनियम की धारा 2 में मानवाधिकार को परिभाषित करते हुए कहा गया है कि मानवाधिकार का अर्थ वे सभी अधिकार जो जीवन की स्वतंत्रता, समानता से संबंधित और जो भारतीय संविधान या अंतरराष्ट्रीय प्रसंविदाओं में उल्लिखित हो और जिन्हें भारतीय न्यायालय द्वारा लागू किया जा सके। अंतरराष्ट्रीय प्रसंविदा का तात्पर्य सिविल एवं राजनैतिक अधिकारों की अंतरराष्ट्रीय प्रसंविदा से है जो संयुक्त राष्ट्र संघ की सामान्य सभा द्वारा 16 दिसम्बर 1996 को अपनाया गया।

राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग ने अपेक्षा के अनुरूप मानवाधिकार संरक्षण एवं मानवाधिकार को परिभाषित करने में अपना अभूतपूर्व योगदान दिया है। उपरोक्त तथ्य वर्ष 1996–97 में मानव अधिकार आयोग द्वारा प्रस्तुत रिपोर्ट के कुछ उद्धरणों से स्पष्ट हो जाता है।

लोकतंत्र में अच्छी सरकार से यह अपेक्षा की जाती है कि उसके तीनों स्तंभ विधायिका, कार्यपालिका एवं न्यायपालिका क्षमतापूर्वक एंव सत्यनिष्ठा से काम करें और उन पर मुक्त और स्वतंत्र प्रेस निगरानी रखें। जब कोई स्तंभ कमजोरी दिखाता है अथवा उसकी सत्यनिष्ठा नहीं रहती तो अन्य पर उसका आनुपातिक भार पड़ता है तथा संविधान एवं लोकतंत्र के संतुलन पर स्वतः ही उसका नकारात्मक प्रभाव पड़ता है जिसमें वह तरीका भी शामिल है जिसमें नागरिकों के अधिकारों को सम्मान दिया जाता है .... सामाजिक स्तर पर आयोग ने यह देखा है कि लंबे समय से इस देश के सभी लोगों के अधिकारों को समुचित आदर देने के प्रति समाज विरोधी रवैया रहा है यद्यपि इसके कारण धर्म अथवा रिवाज रहे हैं; किन्तु अनेक क़ानून बनाने के बावजूद भी इन पूर्वाग्रहों को कोई लाभ नहीं पहुंचा है। .... आयोग ने सोचा है कि यह उसका कर्तव्य है कि वह बार–बार कहे और दबाव डाले कि 14 वर्ष तक की आयु के बच्चों को संविधान के अनुच्छेद 45 के निदेशानुसार मुफ्त तथा अनिवार्य शिक्षा दी जाए। इसी प्रकार के कारणों से आयोग ने महिलाओं के प्रति सभी प्रकार के भेदभावों का विलोपन विषयक समझौता (सी. ई. डी. ए. डबलू.) के अनुसार महिलाओं के प्रति अधिक बराबरी का व्यवहार करने और उनके अधिकारों का सम्मान करने का अनुरोध किया है।........ पुनः मानवीय गरिमा के ऐसे कारण भी हैं कि आयोग को भारत की ऐसी अनेक युवा महिलाओं की दशा के प्रति अधिक जागरूक करने के लिए हस्तक्षेप करना पड़ा जो तत्काल उपलब्ध तथा कम खर्चीले निरोधात्मक तरीके सुलभ होने पर भी ऐसे बच्चों को जन्म देती हैं जो भोजन में लौह तथा आयोडीन की कमी होने की वजह से मानसिक रूप से विक्षिप्त होते हैं। .... आयोग ने अपने दो वरिष्ठ अधिकारी, उन परिस्थितियों का पता लगाने के लिए बोलनगीर तथा कालाहाँडी जिलों में नियुक्त किए हैं; जहाँ अकाल तथा भूख की पीड़ा की वजह से लोगों की मृत्यु होने की शिकायतें आयोग को मिली थी।

इस प्रकार हम देखते हैं मानवाधिकार का वर्तमान स्वरूप जीवन के प्रत्येक पहलू को छूता है और यह हमारा एवं शासन का दायित्व है कि इन मानवीय मूल्यों की रक्षा करें जिससे समाज सही दिशा में चल सके और मानवता का विकास हो सके।

मानवाधिकार के हनन में यदि किसी एक विभाग को जिसे सामाजिक एवं क़ानूनी तौर पर; सबसे ज़्यादा जवाबदेही देनी होती है तो वह है पुलिस। इसका सबसे प्रमुख कारण है पुलिस का दायित्व। पुलिस से जनता एवं शासन यह अपेक्षा करता है कि समाज में क़ानून का राज्य क़ायम हो। सभी लोग सही ढंग से आचरण करें; परन्तु यदि कोई क़ानून के अनुसार आचरण न करे तो उसे अदालत के समक्ष पेश करना तथा क़ानून के अनुरूप सजा दिलवाना है जिससे समाज में अराजकता का माहौल न रहे। सब लोग शांति एवं सुखपूर्वक जीवन यापन कर सकें।

पुलिस जिसके कंधों पर यह गुरूतर दायित्व है कि वह सामान्य जनों के मानवाधिकारों की रक्षा करे उसी के ऊपर मानवाधिकारों के हनन के सबसे ज़्यादा आरोप लगते हैं। अपने कर्तव्य पालन के दौरान यदि कोई व्यक्ति क़ानून का पालन नहीं करता है तो पुलिस उसे न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत करती है। इस कार्य के लिए पुलिस संबंधित व्यक्ति को गिरफ़्तार करती है। यहीं से मानवाधिकार के उल्लंघन की प्रक्रिया प्रारभ होती है। प्रत्येक व्यक्ति को गिरफ़्तार करने से पूर्व, गिरफ़्तारी के दौरान एवं गिरफ़्तारी के बाद कुछ अधिकार दिए गए हैं जिनका पालन होना अत्यंत आवश्यक है। यदि ऐसा नहीं होता है तो यह स्पष्ट मानवाधिकारों का उल्लंघन है। गिरफ़्तारी के दौरान मानवाधिकार के संबंध में प्रेम शंकर शुक्ला बनाम दिल्ली प्रशासन एवं डी.के. बसु बनाम पश्चिम बंगाल में सुप्रीम कोर्ट ने कुछ महत्त्वपूर्ण दिशा निर्धारण किए हैं जो निम्नवत हैं :-

1— किसी भी क़ैदी को न्यायालय में प्रस्तुत करते समय हथकड़ी नहीं लगेगी।

2— यदि ऐसी आवश्यकता हुई तो न्यायालय से पूर्व अनुमति के बाद ही लगाई जाएगी तथा उसका पूरा विवरण रोजनामचे में दर्ज किया जाएगा।

3— गिरफ़्तारी करने वाले पुलिस अधिकारी एवं पूछताछ करने वाले पुलिस अधिकारी की नेम प्लेट एवं पद स्पष्ट होगा तथा सभी पूछताछ करने वालों का नाम रजिस्टर में लिखा जाएगा।

4— गिरफ़्तारी का मेमो संबंधित व्यक्ति के घर वालों को दिया जाएगा।

5— उसके मित्र या परिवार वालों को तुरंत सूचना दी जाएगी।

6—. गिरफ़्तार हुए व्यक्ति को यह बता दिया जाए कि वह जिसे चाहे सूचना भेज सकता है।

7— गिरफ़्तार व्यक्ति का उसकी प्रार्थना पर तुरंत चिकित्सीय परीक्षण कराया जाए।

8— हिरासत के दौरान हर 48 घंटे पर चिकित्सीय परीक्षण कराया जाए।

9— गिरफ़्तार व्यक्ति को जांच के दौरान अपने वकील से मिलने की इजाजत होगी परंतु वह लगातार उपस्थित नहीं रहेगा।

10— प्रत्येक जिले एवं राज्य मुख्यालय पर कंट्रोल रूम होगा जहाँ गिरफ़्तार व्यक्तियों की सूचना 12 घंटे के अंदर दर्ज़ होगी।

इन दोनों महत्त्वपूर्ण फैसलों में माननीय सर्वोच्च न्यायालय ने लगभग उन सभी अधिकारों का वर्णन किया है जो हिरासत के दौरान मानवीय गरिमा को बनाए रखने के लिए आवश्यक हैं।

यद्यपि मा. सर्वोच्च न्यायालय एवं मानव अधिकार आयोग के कारण पुलिस हिरासत में मानवाधिकारों के उल्लंघन में कुछ कमी आई है, परंतु अभी इसकी शिकायतें बहुतायत से मिलती हैं। प्रायः पुलिस हिरासत में मौत के मामले सुनाई देते हैं।

दूसरा मानवाधिकार उल्लंघन का महत्त्वपूर्ण क्षेत्र है अपराधी से पूछताछ। प्रायः लगभग 90 प्रतिशत से 95 प्रतिशत मामलों में इस तरह की पूछताछ में मानवाधिकारों का उल्लंघन होता है जिनमें से कुछ मामले न्यायालय या मानव अधिकार आयोग के समक्ष आते हैं। परन्तु ज्यादातर मामले आयोग या माननीय न्यायालय तक पहुंच ही नहीं पाते।

तीसरा क्षेत्र जो सबसे कम महत्वपूर्ण परंतु पुलिस की छवि बिगाड़ने में सबसे महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है वह है प्रतिदिन का व्यवहार। सामान्यजन जब अपनी छोटी–छोटी समस्याओं को लेकर थाने पर जाते हैं तो उनकी बात सुनने के बजाय उनसे इस तरह से पेश आया जाता है मानो वे मानव न हों। ऐसे में जिसे थाने से कार्य होता है वह किसी नेता या प्रभावशाली व्यक्ति के पास जाता है और यहीं से उसका शोषण प्रारंभ होता है। चाहे–अनचाहे पीड़ित व्यक्ति को न्याय के लिए ऐसे समझौते करने पड़ते हैं जो सही मायनों में देखें तो उसके मानवाधिकारों का स्पष्ट हनन होता है।

पुलिस द्वारा मानवाधिकारों का हनन होता है। यह क्यों होता है इसके पक्ष में तमाम बातें कही जा सकती हैं जैसे–अपराधी को पकड़ने का दबाव, मूलभूत सुविधाएँ न होना, पूछताछ हेतु वैज्ञानिक तरीकों की जानकारी न होना या न्यायपालिका से न्याय की उम्मीद न होना। ज़्यादातर मुठभेड़ (एनकाउण्टर) इसी मानसिकता के साथ किये जाते हैं कि अपराधी किसी न किसी बहाने से छूट कर अपराध करेगा, उसे सज़ा नहीं मिलेगी अतः उचित होगा कि उसे मुठभेड़ में मार गिराया जाए। कभी–कभी अपराध होने पर अनावरण करने का इतना ज़्यादा दबाव होता है कि, पुलिस अपराधियों को यातना देकर आनन–फानन में केस का अनावरण कर लेती है। इस संबंध में मेरे द्वारा एक प्रश्नावली बनाकर तीस पुलिस कर्मियों एवं 35 जनता के प्रबुद्ध वर्ग (विशेष रूप से अध्यापक एवं छात्रों) से मानवाधिकार के संबंध में पूछा गया जिसका परिणाम निम्नवत है–

प्रश्न :–निम्न में से कौन मानवाधिकार हनन की परिधि में आते हैं?

क्र. सं.	मानवाधिकार के बिन्दु	प्रबुद्ध जनता		पुलिस	
		हाँ	नहीं	हाँ	नहीं
1	पुलिस हिरासत में मृत्यु	83%	13%	96%	4%
2	अपराधी का सही इनकाउन्टर	26%	74%	6%	94%
3	अपराधी का फ़र्ज़ी इनकाउन्टर	97%	3%	100%	0%
4	अपराध की जानकारी हेतु थर्ड डिग्री का प्रयोग	77%	23%	100%	0%
5	हिरासत में लिए गए व्यक्ति के घर वालों को सूचना देना।	88%	12%	100%	0%
6	पुलिस द्वारा समाज के गरीब/असहाय लोगों की मदद करना।	40%	60%	63%	37%
7	सामाजिक अपराध जैसे छेड़छाड़ करने वाले की जनता के समक्ष पिटाई।	46%	54%	90%	10%
8	पुलिस द्वारा गश्त में अनावश्यक घूमते लोगों को धमकाकर घर भेजना।	14%	86%	86%	14%
9	पुलिस द्वारा जन सामान्य से बेगार लेना	97%	3%	96%	4%
10	पुलिस द्वारा जन सामान्य से ज़बरदस्ती बेगार लेना	97%	3%	100%	0%

इस परिणाम में आश्चर्यजनक तथ्य है कि लगभग सभी पुलिस कर्मी मुख्यरूप से मानवाधिकार क्या है? के बारे में जानते हैं। इसका प्रमुख श्रेय मेरे विचार में मानव अधिकार आयोग द्वारा प्रशिक्षण पर जोर तथा समय–समय पर न्यायालयों द्वारा दी जाने वाली सज़ा एवं डी. के. बसु का केस है जिसके बाद से प्रत्येक थाने में पुलिस हिरासत में मानवाधिकार के संबंध में लिखकर लगाया गया है। सबसे विचारणीय बिन्दु प्रश्न सं. 6,7, एवं 8 हैं। अभी भी जनता के प्रबुद्ध वर्ग के लोग (60 प्रतिशत) यह मानते हैं कि यदि पुलिस ग़रीब या असहाय लोगों की मदद नहीं करती है तो कोई गलत नहीं है। प्रश्न सं0 7 एवं 8 पुलिस की जनता से अपेक्षा है। 54 प्रतिशत यह मानते हैं कि पुलिस सामाजिक अपराधियों की सरेआम पिटाई कर ठीक करती है। 86 प्रतिशत यह मानते हैं यदि कोई अनावश्यक बाहर घूम रहा है तो गश्त में गए सिपाही उसे धमका कर घर भेज सकते हैं और यह उचित है। उल्लेखनीय है कि अभी भी 37 प्रतिशत पुलिस कर्मी ग़रीब एवं असहाय वर्ग की मदद करना अपना कर्तव्य या मानवाधिकार का उल्लंघन नहीं समझते। यद्यपि यह सर्वे अपने आप में पूर्ण नहीं है। परन्तु यह समाज एवं पुलिस की मानवाधिकार के प्रति सोच को प्रतिबिंबित करता है।

जिस तरह से हम यह जानते हैं कि व्यावहारिक जीवन में कभी–कभी झूठ बोलना पड़ता है, परंतु हम यह सार्वभौन नियम नहीं बना सकते। सार्वभौम नियम तो यही रहेगा कि सदा सच बोलना चाहिए। उसी प्रकार इन कारणों के चलते हम यह नहीं कह सकते कि कभी–कभी मानवाधिकारों का उल्लंघन होना चाहिए। हम सभी का यह गुरुतर दायित्व है कि समाज के सतत् आगे बढ़ने के लिए हम मानवीय मूल्यों का सम्मान करें जिससे समाज का हर वर्ग अपनी इच्छानुसार उन्नति कर सके और शांतिपूर्ण जीवन यापन कर सके।

मानवाधिकारों की रक्षा का दायित्व पुलिस पर है, परंतु यदि रक्षक ही भक्षक बन जाए तो एक ही रास्ता बचता है। वह है न्यायालय का।

मानवाधिकारों के उल्लंघन पर दोषियों को सज़ा देने के साथ–साथ न्यायालयों के ऊपर दो और दायित्व आते हैं वे हैं मानवाधिकारों को परिभाषित करना अर्थात् इसकी परिधि में कौन–कौन से अधिकार आते हैं जिनका संरक्षण ज़रूरी है दूसरे इस परिभाषा के बारे में सचेत करना।

इस क्षेत्र में माननीय न्यायालय ने अपने विभिन्न निर्णयों के माध्यम से कई महत्त्वपूर्ण दिशा–निर्देश दिए जो मानवाधिकारों के संबध मे मील का पत्थर साबित हुए हैं। कुछ का विवरण निम्नवत् है:–

1 **मेनका गांधी बनाम यूनियन ऑफ इण्डिया**– इस महत्त्वपूर्ण केस में न्यायालय ने प्रतिपादित किया कि जीवन एवं व्यक्तिगत स्वतंत्रता केवल प्रशासनिक कार्यों से ही नहीं वरन् न्यायिक प्रक्रिया से भी है। यदि न्यायिक प्रक्रिया प्राकृतिक न्याय के विपरीत है तो वह अनु. 21 के विपरीत है इसलिए अन्याय है। इस केस में न्यायालय ने प्रतिपादित किया कि यदि किसी व्यक्ति की व्यक्तिगत स्वतंत्रता का हनन होता है तो–

(1) यह वैध क़ानून के अंतर्गत होना चाहिए।

(2) क़ानून एक प्रक्रिया का निर्धारण करे।

(3) यह प्रक्रिया सही, न्यायोचित एवं सुसंगत हो।

(4) क़ानून अनुच्छेद 14 और अनुच्छेद 19 का उल्लंघन न करे।

2 **पीपुल्स यूनियन फॉर डेमोक्रेटिक राइट्स बनाम यूनियन ऑफ इण्डिया**– मा. न्यायालय ने प्रतिपादित किया कि, एशियाड प्रोजेक्ट में लगे मज़दूरों को न्यूनतम मज़दूरी न देना उनके मानवीय सम्मान के साथ जीने के अधिकारों का हनन है। अतः अनुच्छेद 21 के विरूद्ध है।

3 **डी.के. यादव बनाम जे एम ए इण्डस्ट्री** – में न्यायालय ने कहा कि मानव जीवन का अधिकार जो धारा 21 में प्रदत्त है इसमें जीने हेतु कमाने की स्वतंत्रता भी है अतः किसी कर्मी का बिना उचित कारण बताए और सुनवाई का मौका दिए निकालना ग़ैर क़ानूनी, स्वेच्छापूर्ण एवं अन्यायपूर्ण है।

4 **परमानंद कटारा बनाम भारत सरकार**– में न्यायालय ने निर्णय दिया कि सभी डॉक्टर चाहे सरकारी हों या ग़ैर सरकारी उनका व्यावसायिक दायित्व है कि वे घायल को तुरंत चिकित्सीय सुविधा प्रदान करें जिससे उसकी ज़िंदगी बच सके। इसके लिए क़ानूनी औपचारिकताओं की प्रतीक्षा न करें।

5 **कन्ज़्यूमर एजूकेशन रिसर्च सेण्टर बनाम यूनियन ऑफ इण्डिया** – में सर्वोच्च न्यायालय ने प्रतिपादित किया कि स्वास्थ्य एवं चिकित्सीय सहायता का अधिकार मूलभूत अधिकार है जो अनुच्छेद 21 में सन्निहित है।

6 **नीरजा चौधरी बनाम राज्य मध्य प्रदेश** – में न्यायालय ने कहा कि बंधुआ मज़दूरों को छुड़ाने के साथ उनका पुनर्वास भी मूलभूत अधिकार के तहत अनु. 21 में आच्छादित है।

7 **सुभाष कुमार बनाम राज्य बिहार**– शुद्ध एवं मुफ़्त पानी एवं हवा जीने के अधिकार के अंतर्गत मानी गई है।

8 **रूरल लिटिगेशन एंड इन्टाइटिलमेंट केन्द्र बनाम राज्य यू.पी.**– में मा. सर्वोच्च न्यायालय ने प्रतिपादित किया कि पर्यावरण को ठीक रखने के लिए चूने की कुछ भट्ठियां बंद की जाएँ क्योंकि शुद्ध पर्यावरण का अधिकार मौलिक है।

9 **एम.सी. मेहता बनाम यूनियन ऑफ इण्डिया**– न्यायालय ने कानपुर में गंगा का पानी प्रदूषित करने वाली टेनरी को बंद करने का आदेश दिया।

10 **इंडियन काउन्सिल ऑफ एन्वायरनों लीगल एक्शन बनाम यूनियन ऑफ इंण्डिया**–न्यायालय ने स्पष्ट किया यदि मूलभूत अधिकारों का प्राइवेट व्यक्ति द्वारा उल्लंघन होता है तथा सरकार/स्थानीय शासन उसके विरूद्ध विधिक कार्यवाही नहीं करता है तो न्यायालय हस्तक्षेप कर सकता है। यह न्यायालय की ड्यूटी होगी।

11 एस. जगन्नाथ बनाम यूनियन ऑफ इंडिया– में न्यायालय ने कहा कि प्रतिबंधित क्षेत्र में स्नान हेतु तालाब बनाना कोस्टल एरिया के पर्यावरण पर प्रतिकूल प्रभाव डालेगा। अतः इसे नोटीफाइड एरिया से हटाया जाए। यह मूलभूत अधिकारों का उल्लघंन है।

12 मोहनी जैन बनाम राज्य कर्नाटक – में न्यायालय ने कहा कि शिक्षा का अधिकार मौलिक अधिकार है जो अनुच्छेद 21 में आच्छादित है।

13 रूदल शाह बनाम राज्य बिहार – न्यायालय ने कहा कि वह ऐसे मामलों में जिसमें नागरिकों के मूल अधिकारों का हनन हुआ हो उसमें न्यायालय आर्थिक क्षतिपूर्ति का आदेश कर सकती है।

वर्तमान में न्यायालय ने अंतरिम क्षतिपूर्ति के सिद्धान्त को भी स्वीकार कर लिया है।

14 विशाखा बनाम राज्य राजस्थान– इस केस में सर्वोच्च न्यायालय ने कार्यरत महिलाओं के दैहिक शोषण के विरूद्ध निर्णय लिया और कहा कि अनुच्छेद 14,15,19(ए) और 21 में स्त्री पुरूष की समानता एवं मानवीय गरिमा के साथ कार्य करने का अधिकार सन्निहित है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मा. सर्वोच्च न्यायालय ने समय–समय पर अपने निर्णयों द्वारा मानवाधिकारों के संरक्षण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। मानवाधिकारों के संरक्षण एवं उन्हें परिभाषित तथा उसके संबंध में लोगों को जागृत करने के क्षेत्र में मानव अधिकार आयोग महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा रहा है। राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग के निम्न कार्य हैं–

1 अपनी ओर से या पीड़ित अथवा उसकी ओर से किसी शिकायत पर मानवाधिकार के हनन या उनके हनन को बढ़ावा देने की जांच या मानवाधिकारों के हनन को सार्वजनिक अधिकारी की कर्त्तव्य विमुखता के कारण रोकने में असमर्थता की जाँच।

2 किसी भी न्यायालय में उसकी अनुमति के बाद मानवाधिकारों के मामले में हस्तक्षेप।

3 राज्य सरकार को जानकारी देकर किसी ऐसे स्थल का दौरा जहां जेल अथवा अन्य संस्था में सुधार, दंड अथवा उपचार के लिए लोगों को रखा जाता है और वहाँ की परिस्थितियों में सुधार के लिए सुझाव देना।

4 आयोग द्वारा अथवा विधि द्वारा मानवाधिकारों की सुरक्षा के प्रावधानों की समीक्षा कर उन्हें प्रभावी ढंग से लागू करने के सुझाव देना।

5 उन सभी तथ्यों की समीक्षा जिनमें आतंकवाद भी शामिल है जिनके कारण मानव अधिकारों का पूर्ण उपयोग नहीं किया जा सकता और उस पर सुझाव।

6 संधियों एवं अंतरराष्ट्रीय प्रयत्नों को अध्ययन एवं उन्हें लागू करने के बारे में सुझाव।

7 मानवाधिकारों के क्षेत्र में अनुसंधान करना एवं उसे प्रोत्साहित करना।

8 मानवाधिकारों के बारे में समाज के विभिन्न वर्गों को साक्षर करना और प्रकाशन, मीडिया, सेमिनार एवं अन्य उपलब्ध साधनों द्वारा जागरूकता लाना।

9 मानवाधिकार क्षेत्र में कार्यरत ग़ैर सरकारी संस्थाओं एवं संगठनों को बढ़ावा देना।

10 अन्य कोई भी कार्य जिसके द्वारा मानवाधिकारों को प्रोत्साहित किया जा सकता है।

सर्वोच्च न्यायालय ने कई प्रकरण सीधे मानव अधिकार आयोग को सौंपे हैं जिनमें से प्रमुख निम्न हैं:–

1 बंधुआ मज़दूरों की समस्या।

2 कोरापुर, बोलनगीर एवं कालाहाँडी में भूख से हुई मृत्यु।

3 आगरा, ग्वालियर एवं रांची में चलने वाले मानसिक चिकित्सालय की देखभाल।

4 औरतों के लिए आगरा में बने शिविर का सही ढंग से संचालन।

इसके अतिरिक्त मानवाधिकार से संबंधित कई प्रकरणों में मानव अधिकार आयोग ने स्वयं सर्वोच्च न्यायालय के सम्मुख अपने बिन्दु रखे। जिनमें से प्रमुख निम्न हैं:–

1 पुलिस सुधार से संबंधित रिट।

2 आर्म्ड फोर्सेस (स्पेशल) पावर्स एक्ट, 1958।

3 बंदियों की मज़दूरी से संबंधित रिट।

4 उड़ीसा में भूख से मृत्यु के संबंध में।

5 चकमा शरणार्थियों का अरुणांचल प्रदेश में शोषण से संबंधित रिट।

6 प्रोटेक्शन ऑफ ह्यूमन राइट्स एक्ट, 1993 के अंतर्गत ह्यूमन राइट्स कोर्ट की स्थापना के संबंध में नियम बनाये जाने विषयक क्रिमिनल रिवीज़न।

मानव अधिकार आयोग के प्रचार प्रसार एवं उसके द्वारा मिलने वाले न्याय के परिणाम स्वरूप जहां आयोग ने 96–97 में 16,823 मामलों को सुना वहीं 1997–98 में 27,289 मामलों को सुना।

वर्तमान में मानव अधिकार आयोग मानवाधिकारों के बारे में लोगों को शिक्षित एवं जागरूक करने में लगा हैं। आयोग 14 वर्ष तक मुफ़्त शिक्षा 10+2 एवं परास्नातक स्तर पर मानवाधिकार का एक विषय के रूप में पढ़ाया जाना, ऐसी सरकारी नौकरियों का चिह्नीकरण जिनमें मानवाधिकार की जानकारी ज़रूरी है तथा उनमें भर्ती के समय उपयुक्त योग्यता का समावेश, प्रोफेशनल ग्रुप जैसे वकील, न्यायिक अधिकारी, सरकारी कर्मचारी, सुरक्षा कर्मियों को मानवाधिकार के बारे में बताना, मानवाधिकार पर वाद–विवाद, सेमिनार का आयोजन करना, स्कूलों, कालेजों में मानवाधिकार पर भाषण का प्रबंध करना आदि विषयों पर 1995–2004 तक एक योजना के तहत लगा है।

इन सब कार्यों के साथ मानवाधिकार के हनन संबंधी मामलों की सुनवाई और उन पर जांच तथा आवश्यकतानुसार अपनी टीम द्वारा जाँच एवं निष्कर्षों से संबंधित सरकार को सूचित करना तथा कृत कार्यवाही से अवगत होना भी आयोग की परिधि में आता है। इसके लिए आयोग समय–समय पर संबंधित राज्यों के प्रमुख सचिवों को पत्र भी लिखता है। अभी जुलाई 2003 में मानव अधिकार आयोग ने बड़ोदरा में अपनी टीम भेजने का निर्णय लिया

है। उल्लेखनीय है कि पिछले वर्ष गुजरात में हुए दंगों में सबसे भयावह बेस्ट बेकरी का केस था जिसमें 12 लोग जिंदा जला दिए गए थे। इस केस में गुजरात की विशेष न्यायालय ने 27 जून 2003 को गवाही के अभाव में अभियुक्तों को दोषमुक्त कर दिया है। उल्लेखनीय है कि राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग ने पूर्व गुजरात सरकार से कुछ मुक़दमों की विवेचना सी.बी.आई. से कराने हेतु अनुरोध भी किया था। मानव अधिकार आयोग ने गुजरात सरकार को यह भी राय दी कि वह निर्णय के विरूद्ध सक्षम न्यायालय में अपील करे।

यही नहीं एक स्कूल में पिटाई से छात्र की मृत्यु को भी मानव अधिकार आयोग ने गंभीरता से लेते हुए शिक्षा सचिव एवं अन्य संबंधित अधिकारियों से वार्तालाप हेतु समय निश्चित किया जिससे छात्रों के प्रति होने वाले अमानवीय अत्याचार को रोका जा सके।

जो भारतवर्ष 1947 तक गुलाम रहा हो तथा वर्ष 1975 में जहाँ आपातकाल लागू कर दिया गया हो वहाँ पर वर्ष 1997–98 में मानव अधिकार आयोग भूख से मरने पर सरकार को सचेत करे या मानवाधिकार संरक्षण के लिए स्कूलों के पाठ्यक्रम चलाने की योजना बनाए; जहां न्यायालय मानवीय गरिमा के साथ कार्य करने को मूल अधिकार माने तथा शुद्ध हवा, पानी मुफ़्त में पाने को मूल अधिकार समझे तो हमें निःसन्देह यह समझ लेना चाहिए कि मानवाधिकार संरक्षण में भारतवर्ष ने एक लंबा सफ़र तय किया है, परंतु इस सफलता पर अभी बैठना सही नहीं है क्योंकि अभी हमें बहुत दूर तक चलना है और उसी दिन रुकना है जिस दिन सभी सुखी और निरोग हों जैसा कि शास्त्रों में वर्णित है:–

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामया !
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, माकश्चिद् दुःखभागभवेत्।।

मानवाधिकार और पुलिस उत्पीड़न

अरुण कुमार

मानवाधिकार की अवधारणा का लगातार परिष्करण और परिमार्जन हो रहा है। आज से कुछ वर्ष पूर्व मानवाधिकार के हनन को पुलिस उत्पीड़न से ही जोड़ कर देखा जाता था। मानवाधिकार की व्यापक अवधारणा ने यह स्थापित किया है कि इसके अन्य भी कई महत्त्वपूर्ण पहलू हैं जो महिलाओं के अधिकार, अस्पृश्यता निवारण संबंधी अधिकार से लेकर भूख से मुक्ति के अधिकार तक को अपने दायरे में समेटे जा रहे हैं।

कुछ देशों में, ख़ासकर भारत में, जनसामान्य पुलिस और हिंसा को एक दूसरे का पूरक मानते हैं। पुलिस की सामान्य छवि के अनुसार यदि एक पुलिसकर्मी धाराप्रवाह गाली न दे सके, तेज़–तर्रार न हो, डंडा चलाने में सक्षम न हो तो उसे सामान्य जनता सफल पुलिसकर्मी नहीं मानती है। उसे जनता निकम्मा और बेकार मानती है। पुलिस की छवि में अंग्रेज़ों के शासन के बहुत बाद भी अधिक परिवर्तन नहीं हुआ है। यदि हम ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखें तो ब्रिटिश शासन, मुग़ल साम्राज्य के खँडहरों पर विकसित हुआ था । इंगलैंड के शासकों ने इस देश की राजनीतिक परिस्थिति का लाभ उठाकर इसे धीरे–धीरे अपने उपनिवेश में परिवर्तित कर लिया। ऐसा करने के लिए उन्हें दमनकारी नीतियों की आवश्यकता थी। यदि भारत में आज लागू किए जा रहे विभिन्न क़ानूनों का अवलोकन करें तो उनमें से अधिकांश 1861 ईसवी के बनाए हुए हैं। उल्लेखनीय है कि इस से पूर्व भारतीय स्वतंत्रता के प्रथम संग्राम जिसे अंग्रेज़ों ने सैनिक विद्रोह की संज्ञा दी थी, की विफलता के बाद ही ये सारे क़ानून बनाए गए थे। इन क़ानूनों का मुख्य ध्येय भारत का औपनिवेशिक शोषण था जिसके लिए उन्हें भारतीय पुलिस को अपने ढंग से इस्तेमाल करने की आवश्यकता थी।

सभी अधिकारों का मुख्य स्रोत उसके लिए बनाए गए क़ानून होते हैं। सभी अधिकार उन्हीं क़ानूनों के आधार पर उपयोग में लाए जा सकते हैं। हमारे 56 साल के स्वदेशी प्रशासन का यह अनुभव है कि जिन अधिकारों के पीछे वैधानिक शक्तियाँ कार्य नहीं करतीं, वे एक तरह से मृतप्राय हो जाते हैं। इस आधार पर हमें गंभीरतापूर्वक विचार करना होगा कि क्यों कई विधि आयोगों के गठन और पुलिस सुधार की विभिन्न कमेटियों की संस्तुतियों के बाद भी इन क़ानूनों के मूल स्वरूप में अभी तक कोई परिवर्तन नहीं हुआ है।

भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के इतिहास पर यदि नज़र डालें तो यह स्पष्ट होता है कि अंग्रेज़ी शासन के विरुद्ध किए गए हर प्रकार के संग्राम के मूल में मानवाधिकारों की प्राप्ति की भावना थी। यह संग्राम चाहे कांग्रेस द्वारा किया गया हो या नरमपंथियों द्वारा या अतिवादी क्रांतिकारियों द्वारा। सन् 1895 में कांग्रेस ने भारत का संविधान बिल तैयार किया जिसे 'होम रूल' के नाम से जाना जाता है। इस बिल का मुख्य ध्येय भारत की स्वतंत्रता के अतिरिक्त सभी नागरिकों को मूलभूत मानवाधिकार उपलब्ध कराने का था जिनमें मुख्यतः अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता एवं न्याय की दृष्टि में समानता प्रमुख थे। स्वतंत्रता संग्राम के दौरान कांग्रेस ने भारतीय नागरिकों को ब्रिटिश नागरिक घोषित करने का मुद्दा भी उठाया था, यहाँ भी कांग्रेस का मुख्य ध्येय यह था कि भारतीय नागरिक भी उन्हीं मौलिक अधिकारों का उपयोग कर सकें जो उस समय ब्रिटेन के नागरिकों को प्राप्त थे । सन् 1925 के 'कॉमनवेल्थ कम्यूनिटी बिल' में अधिकारों की घोषणा के अंतर्गत 7 मौलिक अधिकारों को सम्मिलित किया गया था। विदित है कि इन्हीं सब माँगों पर विचार के लिए 'साइमन कमीशन' का गठन किया गया जिसने बाद में सभी माँगों को नामंजूर कर दिया। सन् 1931 के कांग्रेस के कराची अधिवेशन में मौलिक अधिकार संबंधी प्रस्ताव पारित किया गया। यह प्रस्ताव सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक संदर्भ में अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। इस प्रस्ताव में राजनैतिक स्वतंत्रता के अतिरिक्त सामाजिक परिवर्तन एवं आर्थिक स्वतंत्रता की भी रूपरेखा मौजूद थी। सन् 1935 में पारित 'गवर्नमेंट ऑफ इंडिया एक्ट' में प्रथम बार एक भारतीय को ब्रिटिश संसद जाति, धर्म व जन्म स्थान के आधार पर संपत्ति के अधिकार से वंचित न होने का अधिकार पारित किया। 1945 में सप्रू कमेटी की रिपोर्ट प्रस्तुत की गई जिसमें समाज के सभी वर्गों के लिए पूर्ण समानता, राजनैतिक एवं नागरिक अधिकारों को मान्यता देने का प्रस्ताव था। इन्ही सब संघर्षों एवं प्रस्ताव के आधार पर भारतीय संविधान की रूपरेखा तैयार हुई जिसमें मौलिक अधिकारों को क़ानूनी मान्यता प्रदान की गई। भारतीय संविधान की प्रस्तावना, इसके मौलिक चार्टर संख्या 9 जिसके अनुसार किसी भी व्यक्ति को निरंकुशतापूर्वक न तो गिरफ़्तार किया जाएगा, न कारागार में रखा जाएगा और न तो निर्वासित किया जाएगा।

चार्टर संख्या 10 जिसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को अपने अधिकारों और दायित्वों के निर्धारण में और अपने विरुद्ध किसी भी प्रकार के आपराधिक आरोप पर एक स्वतंत्र व निष्पक्ष न्यायालय द्वारा न्याय सम्मत, सामाजिक सुनवाई का समान अधिकार है।

चार्टर संख्या 11.1 के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को किसी आरोप में तब तक निर्दोष माने जाने का अधिकार है जब तक उसके विरूद्ध किसी सामाजिक मुक़दमें द्वारा अपराध सिद्ध न हो जाए। इस प्रक्रिया में उसे अपने बचाव का पूरा अधिकार है। इसके अतिरिक्त चार्टर के सभी बिन्दुओं की प्रत्यक्ष ज़िम्मेदारी पुलिस पर नहीं है।

समय–समय पर स्वतंत्र भारत में बहुत सारे ऐसे क़ानून भी बनते रहे हैं जिन्हें मानवाधिकार की दृष्टि से विवादास्पद कहा जा सकता है। सन् 1950 में 'प्रीवेन्टिव डिटेंशन एक्ट' लागू किया गया। इसके कुछ दिनों बाद 'मीसा' लागू किया गया। यह क़ानून आपातकाल

के दौरान अत्यंत विवादास्पद रहा और इसके दुरूपयोग के कई मामले प्रकाश में आए। इस क़ानून को तीन बार संशोधित किया गया। इसे संविधान के नौवे अनुच्छेद में भी जगह दी गई ताकि इसे न्यायिक समीक्षा के दायरे से बाहर रखा जा सके। इसके अतिरिक्त 'कोफे पोसा' तथा 'राष्ट्रीय सुरक्षा अधिनियम' को नागरिक अधिकारों के दृष्टिकोण से एक ऋणात्मक क़ानून माना जाता है। आतंकवाद के नियंत्रण के लिए बनाए गए क़ानून 'टाडा' भी अपने आप में काफ़ी विवादास्पद रहा। टाडा की समाप्ति के बाद 'पोटा' को भी विवाद के घेरे में रखा जा रहा है। इन क़ानूनों को समय–समय पर लागू करने के जो भी सामाजिक एवं राजनैतिक परिस्थितियाँ रही हों पर इसके लागू करने की मुख्य ज़िम्मेदारी पुलिस पर होने के कारण उनके दुरूपयोग की सारी ज़िम्मेदारी पुलिस के हिस्से में आती है। वर्तमान समय में उत्तर प्रदेश में एक विधानसभा सदस्य पर पोटा लगाए जाने को लेकर काफी चर्चाएँ हुई हैं। यह सत्य है कि उनके घर से ए.के. 47 राइफ़ल बरामद हुई पर केवल इस आधार पर पोटा लगाना कहाँ तक उचित था, यह विवादास्पद हो सकता है। पर इन मामलों में वरिष्ठ शासकीय एवं पुलिस अधिकारियों द्वारा स्पष्ट रुख नहीं अपनाए जाने के कारण ही ऐसे नियमों के दुरूपयोग की बात फैलती है और इन क़ानूनों का मुख्य उद्देश्य गौण हो जाता है।

पुलिस मुठभेड़ों में मौत हमेशा से एक विवादास्पद विषय रही है। यह बड़े हर्ष की बात है कि मानव अधिकार आयोग एवं इससे जुड़ी संस्थाओं के प्रयास के कारण इन घटनाओं में काफ़ी कमी आई है। 70 के दशक में नक्सलवादी आंदोलनों को कुचलने हेतु फ़र्ज़ी पुलिस मुठभेड़ की बात प्रकाश में आई थी। इस मामले में पश्चिम बंगाल, आंध्र प्रदेश और पंजाब में हुई घटनाओं की संख्या बहुत ही अधिक थी। इन्हीं घटनाओं के बाद भारत में मानवाधिकार से जुड़ी कई ग़ैर–सरकारी संस्थाएँ सक्रिय हुईं जिनमें 'पिपुल्स यूनियन फॉर डेमोक्रेटिक राइट्स', 'पिपुल्स यूनियन फॉर सिविल लिबर्टीज', 'सिटीज़न्स फॉर डेमोक्रेसी' आदि प्रमुख थे। इन संस्थाओं ने मौलिक अधिकारों के हनन को लेकर आंध्र प्रदेश और पंजाब के संबंध में रिपोर्टें प्रकाशित की जिनमें कई मानवाधिकार उल्लंघन के मामलों का ज़िक्र किया गया। इन घटनाओं से जहाँ एक तरफ राज–सत्ता को बनाए रखने के लिए पुलिस के दुरूपयोग की अवधारणा बलवती हुई, वहीं मानवाधिकार के सरंक्षण का आंदोलन भी भारत में मजबूत हुआ। इस आंदोलन के कारण वर्तमान समय में कश्मीर के परिप्रेक्ष्य में रेडक्रॉस और भारत सरकार में एक समझौता हुआ जिसके अनुसार समिति के अधिकारियों को कश्मीर के जेलों का दौरा करने की अनुमति दी गई।

इस तरह पुलिस उत्पीड़न की दूसरी महत्त्वपूर्ण शिकायत पुलिस अभिरक्षा में उत्पीड़न एवं मृत्यु की रही है। इन घटनाओं में भी निश्चित रूप से कमी हुई है। 1998–99 में यह संख्या 1114 थी जबकि 1999–2000 में घट कर 916 हुई है। इन संख्याओं के बारे में एक बात स्पष्ट रूप से ज़ाहिर होती है कि राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग की सख़्ती के कारण अब इन मामलों को तत्काल आयोग के संज्ञान में लाया जाता है। अतः यह संख्याएँ अब अधिक विश्वसनीय होती जा रही है। पूर्व में ऐसी घटनाओं को दबाया जाता था और बहुत कम मामले प्रकाश में लाए जाते थे।

पुलिस मुठभेड़ में मौत या पुलिस अभिरक्षा में उत्पीड़न की घटनाओं की समीक्षा से यह बात स्पष्ट होती है कि अधिकांश मामलों में इन उत्पीड़न के शिकार व्यक्तियों का संबंधित पुलिसकर्मी से कोई व्यक्तिगत द्वेष नहीं होता। यद्यपि व्यक्तिगत द्वेष के भी कई मामले प्रकाश में आए हैं, जिनमें झूठी सरकारी कहानियाँ गढ़ी गई हैं। इन घटनाओं की समीक्षा से एक बात प्रकाश में आई है कि कई मामलों में क़ानूनी अड़चनें भी इन मामलों के लिए ज़िम्मेदार होती हैं। कुछ मामलों में क़ानूनी प्रावधान होने के बावजूद उसका लाभ पुलिसकर्मियों को नहीं मिल पाता है। सर्वविदित है कि किसी संदेही की गिरफ़्तारी के बाद उसे 24 घंटे के अंदर निकटस्थ न्यायालय में प्रस्तुत कर अग्रिम विवेचना हेतु उसके पुलिस हिरासत में दिए जाने का प्रावधान है। देश के कुछ राज्यों में सामान्य रूप से आरोपी को पुलिस हिरासत में लेना एक दुरूह कार्य हो गया है। देश के कुछ उत्तरी राज्यों में किए गए एक अर्ध–सरकारी सर्वेक्षण के दौरान यह ज्ञात हुआ कि 10 प्रतिशत से अधिक मामलों में न्यायालय में आवेदन दिए जाने के बावजूद एवं विवेचना हेतु आरोपी के पुलिस हिरासत में रखे जाने की आवश्यकता के बावजूद उसे वैधानिक रूप में पुलिस हिरासत में नहीं दिया गया। इन कारणों से इन राज्यों के विवेचक पुलिसकर्मियों में यह धारणा बन गई है कि विवेचना हेतू आरोपी को पुलिस हिरासत में ले जाना असंभव है। अतः वह अपने ढंग से विवेचना पूर्ण करने हेतु अवैधानिक रूप से आरोपी को पुलिस हिरासत में रखते हैं।

वैधानिक या अवैधानिक हिरासत के दौरान आरोपी के उत्पीड़न का मुख्य कारण विवेचक द्वारा मुक़दमें के संबंध में पूर्ण जानकारी न होना, अपराध कार्य के लिए उनके पास समय अभाव या फिर पूछताछ हेतु वैज्ञानिक साधनों का उपयोग नहीं किया जाना ही प्रमुख है। एक आरोपी के बार–बार अपराध करने और न्यायालयों द्वारा आसानी से उसकी जमानत हो जाने के कारण, पारंपरिक रूप से उसे नारकोटिक्स आदि पदार्थ के साथ दीर्घ अवधि हेतु न्यायिक हिरासत में रखे जाने का प्रयास पुलिस अधिकारियों द्वारा किया जाता है। जब यह अवैधानिक साधन भी कारगर नहीं होता तो पुलिस फ़र्ज़ी मुठभेड़ का सहारा लेकर न्यायिक प्रक्रिया की अंतिम परिणति को अपने हाथों में ले लेती है। मानवाधिकार के सरंक्षण के दृष्टिकोण से यह एक ऐसा कलंक है, जिससे मुँह छिपाना पुलिस के लिए असंभव हो जाता है।

पुलिस को समाज स्वतंत्रता के नियंत्रण का अधिकार कुछ परिस्थितियों में देता है। यह अधिकार समाज में शांति व्यवस्था या समाज में अपराध नियंत्रण के नाम पर पुलिस को दिया जाता है। इन कार्यों के लिए समाज और क़ानून निश्चित नियमों के अधीन व्यक्ति की स्वतंत्रता को निलंबित कर उसे क़ानून के हाथ में देती है। पुलिस के इस अधिकार उपयोग एवं दुरूपयोग को समाज बहुत पैनी दृष्टि से देखता है और इस दौरान किया गया कोई भी उल्लंघन मानवाधिकार की अवधारणा पर गहरी चोट पहुँचाता है। आमतौर पर देखा गया है कि यदि पुलिस द्वारा यह उल्लंघन जघन्य न हो और इसका उद्देश्य समाज के हित के लिए अपराध एवं क़ानून व्यवस्था के कारण ही किया गया हो तो इसका विरोध नहीं के बराबर होता है। विरोध का स्वर मुखर तभी होता है जब इन अधिकारों का दुरूपयोग व्यक्तिगत एवं राजनैतिक हितों के साधन के लिए किया जाता है।

स्वतंत्रता हनन के दुरूपयोग के कुछ मामलों के कारण कभी–कभी ऐसा आदेश पारित हो जाता है जिसके कारण पुलिस के सामान्य कार्य में भी दिक्कतें महसूस होती हैं। मानवाधिकार उल्लंघन की शिकायतों के कारण माननीय उच्चतम न्यायालय ने सामान्य रूप से कैदी को हथकड़ी पहनाने पर प्रतिबंध लगा दिया। सामान्यतः यह अनुभव किया जा रहा है कि इस आदेश के बाद पुलिस अभिरक्षा से कैदियों के भागने की घटनाओं में वृद्धि हुई है। ऐसा प्रावधान संयुक्त राज्य अमरीका जैसे विशाल जनतंत्र में भी नहीं है, परंतु निश्चित रूप से दिए गए अधिकार के दुरूपयोग के कारण ऐसी स्थिति उत्पन्न हुई है। फ़र्ज़ी मुठभेड़ की घटनाओं के कारण ही राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग को ऐसे आदेश पारित करने पड़े हैं जिसके कारण सभी पुलिस से हुई मुठभेड़ को संदेहास्पद मानकर इसकी जाँच की जाती है। आयोग ने सन् 1993 से ऐसे निर्देश सभी जेल अधिकारियों एवं पुलिस अधीक्षकों को दिए हैं कि पुलिस अभिरक्षा में हुई किसी भी बलात्कार की घटना को 24 घंटे के अंदर मानवाधिकार आयोग को सूचित किया जाए। ऐसा नहीं करने पर यह माना जाएगा कि तथ्यों को छिपाने का प्रयास किया जा रहा है। ऐसा निर्देश पुलिस अभिरक्षा में हुई सभी मौत की घटनाओं के बारे में किया गया है। इसके साथ ही पुलिस हिरासत में हुई सभी मौत की घटनाओं के संबंध में आयोग ने शव–विच्छेदन के दौरान वीडियो फिल्मिंग कराए जाने के निर्देश जारी किए हैं। आयोग के इन सार्थक प्रयासों के बाद पुलिस अभिरक्षा में मृत्यु की घटनाओं में कमी आई है। किसी व्यक्ति की गिरफ़्तारी के संबंध में भी विस्तृत निर्देश निर्गत किए गए हैं जिन्हें सभी पुलिस थानों के बाहर प्रमुखता से प्रस्तुत करने के निर्देश दिए गए हैं।

पुलिस अभिरक्षा में प्रताड़ना के मामलों में भी आयोग ने स्पष्ट निर्देश जारी किए हैं। इस मामले में आयोग की यह मंशा है कि भारत संयुक्त राष्ट्र के 1984 के कन्वेन्शन को हस्ताक्षरित करे। आयोग के प्रयास के कारण ही भारत में इस कन्वेन्शन के फ़ैसलों को हस्ताक्षरित किया है परंतु इसकी पूर्ण स्वीकृति अभी बाकी है। आयोग ने इस दिशा में आई आर सी टी कोपेनहेगन के साथ मिलकर उत्पीड़न के ख़िलाफ़ नई दिल्ली में आठवें अंतरराष्ट्रीय सिम्पोज़ियम का आयोजन कराया है। इस अधिवेशन में स्वतंत्रता एवं विधि–विशेषज्ञों के अतिरिक्त कई मानवाधिकार से संबंधित संस्थाओं एवं व्यक्तियों ने भाग लिया। इसमें प्रमुख रूप से यू एन कन्वेन्शन की पूर्ण स्वीकृति की बात की गई है।

पुलिस द्वारा मानवाधिकार–हनन के कई मामलों की जाँच केंद्रीय अन्वेषण ब्यूरो द्वारा की गई है। ब्यूरो की विश्वसनीयता के कारण ही जब भी स्थानीय पुलिस में विश्वास की कमी होती है, ऐसे मामले विवेचना हेतु केंद्रीय अन्वेषण ब्यूरो को दिए जाते हैं। केंद्रीय अन्वेषण ब्यूरो द्वारा विवेचित कुछ लंबित विवेचनाओं के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि सामान्यतः इन मामलों को इतनी देर से ब्यूरो के पास भेजा जाता है कि प्रमुख साक्ष्यों का संकलन एवं घटना स्थल से साक्ष्यों का एकत्रीकरण असंभव हो जाता है। उदाहरण के तौर पर वर्तमान समय में लंबित एक मामला जो 1993 के पुलिस उत्पीड़न से संबंधित है, का पंजीकरण माननीय उच्च न्यायालय के आदेशों के आधार पर 1998 में हुआ। सर्वप्रथम मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट द्वारा इस मामले का संज्ञान लिया और उनके द्वारा ही कुछ गवाहों के बयान लिए गए और

फिर से मामले को केंद्रीय अन्वेषण ब्यूरो के सपुर्द किया गया। विवेचक द्वारा अभी तक 115 गवाहों के बयान लिए जा चुके हैं। कुछ अभिलेख कर्मचारियों के पास हैं परंतु उनके उपलब्ध न कराए जाने के कारण उच्च न्यायालय में आवेदन दिया गया है। आज दस साल बाद भी इस मामले की विवेचना समाप्त नहीं हो पाई है। ऐसे मामलों में वही उक्ति सिद्ध होती है कि देर से न्याय किया जाना न्याय नहीं किए जाने के बराबर है।

इस मामले में सिक्के के दूसरे पहलू की ओर कम ही नज़र जाती है परंतु यदि इस मर्ज़ का सही इलाज खोजें तो इसे नकारा नहीं जा सकता। यह महत्त्वपूर्ण पहलू है पुलिस द्वारा किए जा रहे मानवाधिकार हनन का मनोविज्ञान। इस विषय पर शोधों एवं सहानुभूतिपूर्ण रवैए की आवश्यकता है। सर्वविदित है कि भारतीय संविधान के अनुसार देश की अखंडता, संप्रुभता एवं शस्त्रीय बल में अनुशासन बनाए रखने के लिए पुलिसकर्मी को एक नागरिक के रूप में प्राप्त कुछ मौलिक अधिकारों को निलंबित किया गया है, जिससे उनको अपनी समस्याओं को सार्वजनिक रूप से व्यक्त करने का अधिकार नहीं है। अनुशासनबद्ध बल होने के कारण मीडिया या अन्य ग़ैर–सरकारी संस्थाएं उनकी समस्याओं को सही ढंग से नहीं समझ पाती। दंड क़ानून की स्थापना के समय यह माना गया था कि छोटे–मोटे अपराध के नियंत्रण में पारिवारिक, सामाजिक संस्थाएं भी सहयोग करेंगी। आज ये सारी संस्थाएं किसी भी तरह से अपराध के नियंत्रण में सक्षम नहीं हैं। सभी मामलों में राज्य–नियंत्रण ही कारगर रह गया है। इस कारण से पुलिसकर्मियों के अधिकारों का बोझ इस हद तक बढ़ गया है जिसका दूर बैठ कर आकलन करना मुश्किल है। पारिवारिक झगड़ों से लेकर मकान, भूमि संबंधी विवाद, व्यापार के दौरान दिए गए कर्ज़ और उसे न वापस करने के मामले से लेकर हत्या, लूट, डकैती, आर्थिक अपराध के मामलों से लेकर कंप्यूटर, नॉरकोटिक्स, दहेज अपराध के मामलों से लेकर आतंकवाद जैसे मामलों में पुलिस इस राज–सत्ता का प्रतिनिधित्व कर रही है। क़ानूनों में कोई बदलाव नहीं आने, सामाजिक परिप्रेक्ष्य में सामाजिक समस्याओं से निपटने के लिए सिर्फ क़ानून बनाकर उसको लागू करने के प्रयास आदि ऐसे मामले हैं जिनका विशद अध्ययन एवं समाधान आवश्यक है। कुछ अपराध के मामलों के निस्तारण हेतु मीडिया के द्वारा इतना अधिक दबाव बना दिया जाता है कि कई मामलों में पुलिस मानवाधिकार उल्लंघन के लिए बाध्य हो जाती है। एक तरफ तो मानवाधिकार के पालन की बात होती है दूसरी तरफ समाज का बहुसंख्यक हिस्सा यह मानता है कि अपराध की समाप्ति के लिए किया गया मानवाधिकार का उल्लंघन गलत नहीं है।

इन विरोधाभास एवं विषमताओं के मनोविज्ञान को समझे बिना इस समस्या का समग्र रूप से समाधान नहीं हो सकता। पुलिस को जो क़ानूनन अधिकार प्राप्त है, उसका उपयोग करना भी कई मामलों में अत्यंत मुश्किल होता जा रहा है। सामान्य रूप से पुलिस अभिरक्षा मिलना दुरूह होता जा रहा है। मानवाधिकार की मूल अवधारणा सब को समान अवसर मिलने का है परन्तु अपराध नियंत्रण के मामले में पुलिस एक तरफ़ और समाज के अन्य लोग दूसरे पक्ष में खड़े दिखाई देते हैं। सभी पक्षों से ऋणात्मक टिप्पणियाँ सुनने के बाद एक पुलिसकर्मी मान लेता है कि वह कुछ भी करे कोई उसे समझने का प्रयास नहीं करेगा और वह पूर्ण

रूप से मानवाधिकार एवं क़ानून के उल्लंघन पर आमदा हो जाता है। अतः पुलिस के मनोविज्ञान को समझना आज के वक़्त की महत्त्वपूर्ण आवश्यकता है।

पुलिस सुधार हेतु कई आयोग एवं समितियाँ बनीं परंतु एक समिति के निर्णयों की समीक्षा हेतु दूसरी समिति बन जाती है, कोई स्थायी हल निकल कर सामने नहीं आता। राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग ने इस परिप्रेक्ष्य में व्यवस्था परिवर्तन हेतु कई ठोस प्रयास किए हैं। यहाँ तक की सभी वार्षिक रिपोर्टों में इसका विस्तृत उल्लेख मिलता है। माननीय उच्चतम न्यायालय में प्रकाश सिंह एवं भारतीय संघ के लंबित मामले में आयोग ने, जिसे इसमें एक पक्ष बनाया गया था, कुछ महत्त्वपूर्ण अनुशंसाएं की हैं। यह आयोग के 1997–98 की वार्षिक रिपोर्ट में उपलब्ध हैं। यह मामला राष्ट्रीय पुलिस आयोग की संस्तुतियों को लागू करने से संबंधित हैं। राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग ने इसका अनुमोदन करते हुए कुछ और नई संस्तुतियाँ की हैं। छह वर्षों से अधिक समय से लंबित इस मामले में आयोग को संभवतः अपनी सक्रियता बढ़ानी होगी। बेस्ट बेकरी मामले में आयोग के रुख़ ने भारत की जनता को एक नई आशा प्रदान की है। मानवाधिकार एवं पुलिस उत्पीड़न के संबंध में यदि कोई सकारात्मक क़दम संभव है तो वह है राष्ट्रीय पुलिस आयोग की संस्तुतियों को लागू किया जाना जिसके लिए राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग ही एक आशा की किरण प्रतीत होती है।

सामाजिक न्याय और मानवाधिकार

मुकेश कुमार मेश्राम

सामाजिक न्याय और मानवाधिकार के अंतर्ग्रंथन अथवा अन्तर्विरोध की सामान्य अवधारणा जितनी जटिल है, उतनी ही व्यापक और संश्लिष्ट भी है। इस अंतर्ग्रंथन या अंतर्विरोध का एक छोर भारतीय सामाजिक संरचना के नियामक तत्वों–जाति, वर्ण, वर्ग और धर्म की बुनियाद से संबद्ध है तो दूसरा छोर मनुष्य की प्राथमिक ज़रूरतों, विकास की अवस्थाओं और जैविक प्रक्रियाओं से जुड़ा हुआ है। प्राकृतिक परिवेश और सभ्यता–बोध के विभिन्न संस्तरों की भूमिका को भी इस संदर्भ में नज़रअंदाज़ नहीं किया जा सकता। समाज के उच्च वर्ग और वर्ण तथा आदिवासियों और ख़ानाबदोशों की तरह जीवन जीने को मजबूर समुदायों के प्रसंग में भी सामाजिक न्याय और मानवाधिकार की अवधारणा एक जैसी नहीं हो सकती। आर्थिक और जातीय विषमता के बीच सामाजिक न्याय और मानवाधिकार को संवैधानिक भूमि पर परिभाषित करना और उसे लागू करना एक कठिन एवं जटिल समस्या है, जिसके लिए सूचना और संचार माध्यमों को योजनाबद्ध , शृंखलाबद्ध और समयबद्ध नियोजित कर चेतना के स्तर पर समायोजित और विकसित करने की ज़रूरत है। इस क्रम में न केवल इनके मूल सिद्धान्तों का ज्ञान ज़रूरी है, अपितु मौजूदा परिस्थितियों में इनके लागू करने की अवस्थाओं, उपलब्धियों और विफलताओं पर सजग–सतर्क नज़र भी रखनी होगी। साथ ही सामाजिक न्याय की निष्पत्तियों और मानवाधिकार की प्रपत्तियों की टकराहट से उत्पन्न प्रश्नों का विवेचन भी आवश्यक है। सवाल यह भी है कि सामाजिक न्याय और मानवाधिकार जैसे पद इस रूप में पिछले दो दशकों के मध्य ही अस्तित्व में क्यों आए? क्या यह पूँजीवादी विकास की एक अनिवार्य वैचारिक अवस्था का प्रतिफलन है या भारत सहित दुनिया के देशों के शोषितों, वंचितों और उत्पीड़ितों के बीच अपने अधिकारों के प्रति सक्रिय जागरूकता की स्वाभाविक परिणति है?

सामाजिक न्याय का अभिप्राय जाति और वर्ण की वर्चस्ववादी, शोषणवादी, एकाधिकारवादी व्यवस्था के प्रतिकार से है। यह प्रतिकार दक्षिण भारत में पहले शुरू हुआ और उत्तर भारत में ज्योतिबा फूले और डॉ. भीमराव अंबेडकर के उदय के साथ गतिमान हुआ । समय–समय पर समाजवादी और साम्यवादी पार्टियों ने ग़ैरबराबरी और सामाजिक विषमता के विरूद्ध आंदोलन चलाया। पिछड़ी जातियों, दलितों और महिलाओं के प्रकृति–प्रदत्त एवं संविधान प्रदत्त अधिकारों

के लिए कुछ जातीय संगठनों ने भी आंदोलन किया और उसके प्रतीकवत् परिणाम भी सामने आए। इस प्रसंग में बसपा का उदय एक ऐतिहासिक राजनीतिक घटना है। बसपा को तीन बार उत्तर प्रदेश जैसे बड़े प्रदेश का नेतृत्व करने का अवसर मिला तथा न्याय और मानवाधिकार के वास्तविक कार्यान्वयन की स्थितियाँ और उपलब्धियाँ क्या रहीं, यह अलग अनुसंधान और अनुशीलन का विषय है, किंतु प्रथमदृष्टया यह स्पष्ट है कि सत्ता में भागीदारी और राजनीतिक प्रभुत्व में वृद्धि मात्र से ही सामाजिक न्याय की मंजिल को पा लेने की कल्पना हवाई है। कुछ सख़्त क़ानूनों को जोड़ लेने और न्यायिक सक्रियता और संवैधानिक सुरक्षा से ही मानवाधिकार की रक्षा नहीं की जा सकती। शिक्षा और संगठन को जनपक्षधर, यथार्थपरक बनाकर और शोषक सामाजिक व्यवस्था के विरूद्ध वंचितों को आलोड़ित कर ही सामाजिक न्याय की मंज़िल को पाया जा सकता है और इसी रास्ते पर चल कर मानवाधिकारों की आशंकित टकराहटों से बचा जा सकता है। यही रास्ता डॉ. अंबेडकर ने सुझाया था। उन्होंने समाज की प्रगति को समाज की प्रगति का मापदंड माना। गुलामों को गुलामी का अहसास कराने पर जोर दिया। दलित–मज़दूर एकता के लिए अलग राजनीतिक संगठन खड़ा करने पर बल दिया। इसके बावजूद यदि अभी लक्ष्य काफ़ी दूर है तो समझना चाहिए कि या तो वर्चस्ववादी जकड़न से मुक्ति के लिए प्रयासों में कहीं–न–कहीं चेतनागत, रणनीतिक और स्थूल कमज़ोरियाँ हैं या फिर मुक्तिकामी संघर्षशील शक्तियाँ एक सीमा के बाद उसी जकड़न को जाने–अनजाने मजबूत करने में काम आती जा रही हैं।

सामाजिक उत्पीड़न और अन्याय का कहर सदियों से शूद्रों और महिलाओं पर टूटता आया है। उन्नीसवीं शताब्दी से लेकर बीसवीं शताब्दी की समाप्ति तक पूरी दुनिया की समूची आर्थिक राजनीतिक संरचना बदल जाने के बावजूद अन्याय के ढंग और उत्पीड़न की तीव्रता में फ़र्क़ ज़रूर आया है। नवजागरण, पुनर्निर्माण, प्रबोधन और औद्योगीकरण के प्रभाव से धार्मिक–सामाजिक प्रतिबंधों में कमी आई है, शिक्षा–सम्मान और आर्थिक क्षेत्रों में थोड़ी प्रगति हुई है, किंतु कितनी? यह सर्वेक्षण बहुत उत्साहवर्द्धक नहीं है। यद्यपि महावीर के अनुसार "वर्तमान समय में जितने भी आंदोलन चल रहे हैं, वे सभी दलितों के हितों को ध्यान में रखकर चलाए जा रहे हैं। फिर भी सभी दलित आंदोलनों में मतभेद ही दिखाई दे रहा है .... जो विभिन्न दलित आंदोलनों को एक मज़बूत आंदोलन नहीं बनने दे रहा है।" क्या इसके पीछे वे प्रभुत्वशाली शक्तियाँ तो नहीं हैं, जो श्रम–विभाजन की ऐतिहासिक परिस्थितियों और अवस्थाओं को अपने हितों के अनुरूप व्याख्यायित करती आ रही हैं और जिनके शिकंजे में फँसकर दलितों में एक सम्माननीय और उच्च वर्ग पैदा हो रहा है? इस संदर्भ में राम निहोर विमल ने लक्ष्य किया है कि "मैं दलित शब्द से मतलब समझता हूँ – शोषित, उत्पीड़ित वर्ग"। ऐसा वर्ग जो दला गया हो; जिसका दलन किया गया हो या किया जा रहा हो। शूद्र–वर्ण की तमाम जातियाँ जो अछूत हैं, जिनके पास खुद की खेती करने की ज़मीन नहीं है, जीविका का अन्य कोई साधन नहीं है, वे सभी दलित वर्ग में आती हैं। एक समय था, खासकर डॉ. अंबेडकर के समय में जब आरक्षण नीति की व्यवस्था की गई थी तो अतिशूद्रों एवं अछूतों की संपूर्ण जातियों संपूर्ण लोग ही दलित हुआ करते थे।" उस समय से यह समय बहुत भिन्न नहीं

है। पिछड़ों के साथ अतिपिछड़ों और दलितों के साथ अतिदलितों का सवाल अभी पिछले दिनों उछला था और इस बहस में दलित बुद्धिजीवी भी शामिल थे।

मुख्य सवाल यह है कि सामाजिक अन्याय के शिकार समाजों को उनका वाजिब हक़ दिलाने के आंदोलन के अध्ययन और विवेचन–क्रम में इस अन्याय के कारकों को कैसे समझा जाए? इतिहास को समझने और जानने की कई प्रविधियाँ हैं। इन प्रविधियों से गुज़रे बिना सामाजिक अन्याय की तहों को नहीं समझा जा सकता और तब तक उसका निदान भी शायद संभव नहीं है, इसलिए विमल न केवल शास्त्रीय मार्क्सवादियों के भारतीय समाज के 'श्रम'–विभाजन' के सिद्धांत को चुनौती देते हैं, बल्कि डॉ. अंबेडकर के 'श्रमिकों के विभाजन वाले सिद्धांत' से भी टकराते हैं, 'श्रम–विभाजन' या 'श्रमिकों के विभाजन' वाले सिद्धांतों में श्रम या श्रमिक ही केंद्र में होते हैं, किंतु वर्ण व्यवस्था में केवल श्रम या श्रमिक ही नहीं, बल्कि उसकी पत्नी एवं बच्चों के भी उसी वर्ण या जाति के होने के कारण उसका पूरा परिवार ही केंद्र में हो जाता है और यह परिवार एक आरोपित या आरक्षित नियमों के आधार पर एक ख़ास जाति का श्रमिक पैदा करता है, चाहे उसकी योग्यता या अयोग्यता कुछ भी हो।" इस विवेचन में वर्ण और वर्ग का अंतर्विरोध स्पष्ट रूप से झलकता है। भारत में वर्ण–व्यवस्था लगातार जाति–व्यवस्था में संक्रमित होती रही है। श्रम करने वाले परिवारों को काम की कोटि के आधार पर जातियों में बाँटा गया और सामाजिक रूप से मौलिक अधिकारों को या तो छीन लिया गया या अत्यंत सीमित कर दिया गया। मनुष्य की सहजानुभूतिजन्य अभिव्यक्ति पर भी रोक लगाई गई। उसकी आस्थाओं और उनके विश्वासों को रौंदा गया। प्रभुत्वशाली वर्ग ने कर्मकांड और चमत्कार को धर्म का नाम दिया और ब्राह्मणों ने पुरोहिती व्यवस्था क़ायम की। इस तरह उन्होंने अपने लिए सुख–सुविधा और सत्ता–संपत्ति पर स्वामित्व का अधिकार आरक्षित कर लिया, इसलिए यह सही है कि सामाजिक बराबरी के लिए आरक्षण की अवधारणा डॉ. अंबेडकर की नही है, बल्कि उन्होंने पहले से चली आ रही आरक्षण–व्यवस्था – जो वर्चस्ववादी और सामाजिक शोषकों के लिए सबसे मज़बूत हथियार थी, को शोषितों और वंचितों के पक्ष में कर दिया। यह दीगर बात है कि सामाजिक न्याय के पक्षकारों द्वारा इसका कारगर और निर्णायक उपयोग अभी तक नहीं किया जा सका।

इस हथियार का उपयोग कैसे हो कि उसका शत–प्रतिशत लाभ मिल सके और मानवाधिकार की मंज़िल हासिल हो सके। इस बिंदु पर अब तक जो विचार–विमर्श किए गए गए हैं, उन्हें ध्यान में रखते हुए आँकड़ों की तुलनात्मक पड़ताल की जानी चाहिए। ग़ौरतलब है कि 1919 में बने क़ानून में कहा गया था कि "जाति और धर्म के आधार पर सरकारी सेवाओं में किसी के साथ भेदभाव नहीं किया जाएगा।" इस क़ानून का परिपालन नहीं हुआ। पुलिस और फ़ौज में अछूतों को भर्ती नहीं किया जाता था। डॉ. अंबेडकर ने कहा "1919 के क़ानून में यह जोड़ दिया जाए कि यदि किसी के नागरिक अधिकारों का उल्लंघन होता है तो इसके लिए सरकारी अफ़सर ज़िम्मेदार होंगे।" स्वतंत्र भारत में लोकतंत्र क़ायम होने के बाद भी सामाजिक न्याय और मानवाधिकार की रक्षा के लिए संविधान में व्यवस्था की गई और उसके उल्लंघन की ज़िम्मेदारी अफ़सरों पर ही थोपी गई। उसके लिए कोई सुव्यवस्थित

और व्यापक आंदोलन नहीं चलाया गया। जन आंदोलन चलाया जाना चाहिए, यह डॉ. अंबेडकर अच्छी तरह समझते थे। सामाजिक न्याय तभी क़ायम होगा, जब मज़दूरों का शासन होगा। बताने की ज़रूरत नहीं है कि डॉ. अंबेडकर के लिए मज़दूरों का अर्थ क्या था– "मज़दूर को शासक वर्ग बनना है, इसके लिए ज्ञान आवश्यक है। मज़दूर वर्ग को दिखाना है कि वह दूसरों से अच्छी तरह शासन कर सकता है। खुली होड़ के आधार पर पहले जैसे चलता था, वैसे मज़दूर सरकार का शासन नहीं चलेगा। उसे नियंत्रण के द्वारा शासन चलाना होगा। खुली होड़ वाले शासन के लिए उतना ज्ञान और उतना प्रशिक्षण ज़रूरी नहीं है, जितना नियंत्रण वाले शासन के लिए। दुर्भाग्य से भारत में मज़दूर वर्ग ने अध्ययन का महत्त्व नहीं समझा।" यहाँ अध्ययन से अभिप्राय निर्भ्रांत रूप से सामाजिक संबंधों को निर्मित करने वाली ऐतिहासिक, आर्थिक और सहभागिता का विकास करने वाली परिस्थितियों और परिघटनाओं के अध्ययन से है।

आज भी उत्तर और मध्य भारत के अनेक अंचल और इलाके ऐसे हैं, जहाँ के निवासियों को स्वतंत्रता और समानता शब्द के बारे में कोई अता–पता नहीं है। सामाजिक न्याय और मानवाधिकार तो दूर की कौड़ी है और जिनके विषय में अधिकांश राजनीतिक दलों के "थिंक टैंक" तक को कोई सामाजशास्त्रीय ज्ञान नहीं है। उनके बीच जाकर उनकी आर्थिक–सांस्कृतिक पृष्ठभूमि और सामयिक अवस्थाओं का अध्ययन मानवाधिकार की रक्षा से संबद्ध संगठनों और कार्यकर्त्ताओं के लिए आवश्यक है, क्योंकि उन्हें अंधविश्वासी आस्थाओं में बाँध कर भरमाए रखने की कोशिशें भी इधर देखने में आई हैं। आदिवासी क्षेत्रों से जो इधर ताज़ा सूचनाएँ आई हैं, वे हमारी लोकतांत्रिक व्यवस्था के माथे पर कलंक हैं और हमारे मनुष्य होने के समक्ष सवाल खड़ा करती हैं। "प्रमुख रूप से राजस्थान के बारा ज़िले और मध्य प्रदेश के गुना, शिवपुरी, विदिशा ज़िलों से सेहरियां आदिवासियों की मौत के समाचार हैं। इसके अलावा उड़ीसा, झारखंड, त्रिपुरा जैसे आदिवासी बहुल राज्यों से भी कुपोषण तथा भुखमरी की स्थिति फैलने के आसार हैं।" उड़ीसा के जाजपुर ज़िले में तो मंजुलता नाम की एक महिला ने भुखमरी से तंग आकर अपने जुड़वाँ बच्चों को 350 रूपये और 10 किलो चावल के बदले बेच दिया। मंजुलता अपने अन्य तीन बच्चों के लिए भी ग्राहक ढूँढ़ रही है। त्रिपुरा के साबूराम गाँव में गत दिनों "एक आदिवासी ने ग़रीबी से तंग आकर आत्महत्या कर ली। इसके पहले महाराष्ट्र, झारखंड आदि राज्यों से भी कुपोषण से आदिवासी बच्चों की मौत के समाचार आए थे। मीडिया और सरकार के बीच इन दावों और सच्चाई को लेकर रस्साकशी चलती रहती है।" मीडिया की रिपोर्ट अपनी जगह और सरकारी सफ़ाई अपनी जगह है, किंतु इसमें संशय नहीं है कि इन क्षेत्रों में आदिवासियों को किसी भी प्रकार की सुविधा मुहैया करा पाने में सरकारें विफल रही हैं। विकास की इस मंज़िल पर भी उन्हें बर्बरताओं और कबीलाई असभ्यताओं के बीच जीना पड़ रहा है। उड़ीसा में आज भी ऐसे गाँव हैं, जहाँ एक जून के चावल के जुगाड़ के बरक्स सामाजिक न्याय और मानवाधिकार की संवैधानिक पोथियाँ और इनसे जुड़े आयोगों की सारी सक्रियताएँ निरर्थक हैं, बल्कि "आज़ादी के पचपन वर्षों में करोड़ों आदिवासी बेदख़ल हुए। आदिवासियों के पास बची हुई ज़मीन पर से उन्हें वनभूमि संरक्षण के नाम पर बेदख़ल

किया जा रहा है। इसके अलावा अनेक वानिकी परियोजनाओं के नाम आदिवासियों के जंगल पर उनके अधिकार कम किए जा रहे हैं।" अर्थात् एक स्थिति यह भी है, जिसमें आदिवासियों के संपत्ति के मौलिक अधिकारों का हनन किया जा रहा है। पुनर्वास और रोज़गार की वैकल्पिक व्यवस्था किए बिना आदिवासियों को उनके जंगल से बेदख़ल किए जाने की समस्या मानव अधिकार आयोग के सामने एक चुनौती है।

संविधान में सामाजिक न्याय और मानवाधिकार के सरंक्षण के लिए पर्याप्त प्रावधान किए गए हैं, फिर भी समय–समय पर कुछ ऐसे मामले आ ही जाते हैं, जिन्हें सुलझाने के लिए पुनर्विचार की ज़रूरत पड़ती है। इन अपवादों पर विचार के लिए अलग से चेष्टाएँ भी होती रहती हैं। हमारे समक्ष चुनौती यह है कि सामान्य नागरिक अधिकारों का ही संरक्षण हम संविधान की मंशा के अनुरूप नहीं कर पा रहे हैं। दिनांक 8 मई 1955 अस्तित्व में आए नागरिक अधिकारों का संरक्षण अधिनियम की धारा 3 में, धार्मिक अधिकार, धारा 4 में सामाजिक अधिकार, धारा 5 में अस्पताल आदि में अधिकार, धारा 6 में वस्तुएँ बेचने और सेवाएँ प्रदान करने का अधिकार, धारा 7 में छुआछूत/अस्पृश्यता पर आधारित अन्य अपराधों के लिए दंड व्यवस्था को संरक्षित किया गया । धारा 7–1/ए के तहत अनुच्छेद 17 के अधीन अधिकार को परिभाषित करते हुए कहा गया कि "जो कोई व्यक्ति, संविधान के अनुच्छेद 17 के अधीन छूआछूत उन्मूलन के कारण किसी अन्य व्यक्ति को प्राप्त किसी ऐसे अधिकार का प्रयोग किए जाने पर विरोध के रूप में या बदला लेने की भावना से उसके शरीर या संपत्ति के विरूद्ध कोई अपराध करता है तो वह अपराध जहाँ 2 वर्ष की अवधि के कारावास से दंडनीय है, वहाँ कम–से–कम 2 वर्ष की अवधि के कारावास और जुर्माने से भी दंडनीय होगा।" इस अधिनियम में सामुदायिक अधिकारों और अवैध अनिवार्य श्रम को छुआछूत की श्रेणी में लाने संबंधी अवस्थाओं को भी बताया गया है। अपराधों के दुष्प्रेषण और इस संबंध में सिविल न्यायालयों के अधिकार क्षेत्र की परिसीमा भी बताई गई है। अलग–अलग राज्यों ने भी अपनी संवैधानिक सीमा में मानवाधिकारों को नागरिक अधिकार में परिवर्तित करने के लिए उपक्रम किए हैं, किंतु सामाजिक उत्पीड़न का न सिलसिला थमा और न मानवाधिकार की मूल भावना की रक्षा हो सकी। यहाँ हमारा अभिप्राय आँकड़ों के खेल में शामिल होना नहीं है और न हम चाहते हैं कि सामाजिक न्याय की अवधारणा को सीमित करके देखा जाए। व्यापक अर्थ में देखने पर इस व्यवस्था की संरचना पर नए सिरे से विचार करने का दबाव महसूस किया जा सकता है। सामाजिक परिवर्तन की जिन स्थितियों पर हम संतोष व्यक्त कर सकते हैं या उसे अपनी उपलब्धियों के रूप में गिना सकते हैं, उनका लाभ वंचित समाज के कितने प्रतिशत लोगों को मिल पाया है। क्या बिना मज़दूरों, ग़रीबों, दलितों के वास्तविक शासन के बिना सामाजिक न्याय संभव है? डॉ. अंबेडकर ने 1942 में स्पष्ट किया था, "संसदीय लोकतंत्र शासन का ऐसा रूप है, जिसमें जनता का काम अपने मालिकों के लिए वोट देना और उन्हें हुकूमत करने के लिए छोड़ देना है। मजदूर वर्ग की राय में शासन की ऐसी व्यवस्था जनता की सरकार का उल्टा रूप है। मज़दूर वर्ग के लिए समानता का अर्थ है, सबको काम करने के लिए समान अवसर मिले और राज्यसत्ता का कर्त्तव्य है, प्रत्येक व्यक्ति को उसकी आवश्यकताओं के अनसार विकास के लिए सारी सविधाएँ प्रदान करे। मजदरों के लिए समानता का अर्थ

है, नागरिक सेवाओं और फ़ौज से लेकर व्यापार और उद्योग–धंधों तक हर तरह के विशेषाधिकार ख़त्म किए जाएँ, वे सारी चीज़ें ख़त्म की जायें, जिनसे असमानता पैदा होती है।" सामाजिक न्याय की वास्तविक भूमि यही है। सामाजिक न्याय, आर्थिक और राजनीतिक बराबरी और सहभागिता के बिना नहीं हो सकता। प्रतिभा और योग्यता का प्रश्न इस संदर्भ में अक्सर उठाया जाता रहा है। इसका एक मनोवैज्ञानिक और जीववैज्ञानिक पहलू है। विशेषज्ञ अपवाद होते हैं। सृजनात्मक और रचनात्मक प्रतिभाएँ भी 'सीखने योग्य परिस्थितियों' में ही अपना वांछित आकार ग्रहण करती हैं। उच्च स्तरीय प्रयोगशालाओं के अभाव में कोई प्रतिभावान रसायनज्ञ अपनी प्रतिभा को ठीक ढंग से प्रदर्शित नहीं कर सकता।

सामाजिक अन्याय के शिकारों और मानवाधिकार की सामान्य माँगों से वंचितों में आदिवासियों और दलितों के साथ महिलाओं का एक बड़ा हिस्सा शामिल है। उच्च, मध्य वर्ग की स्त्रियों को भी सांस्कृतिक, धार्मिक कारणों और रूढ़ियों की जकड़न के कारण सामाजिक स्तर पर अनेक जद्दोजहद का सामना करना पड़ता रहा है। हालाँकि कहने को तो इस देश के प्रधानमंत्री पद पर सबसे अधिक दिनों तक बने रहने का श्रेय एक महिला को ही है, लेकिन सामान्यतः मुक्ति के रास्ते पर अकेले चल कर सफलता नहीं मिलती। शबाना आज़मी कहती हैं कि "संयुक्त हिंदू परिवारों में भी महिलाओं को अधिकार न देने के लिए उसी तरह पर्सनल लॉ का सहारा लिया जाता है, जैसा मुसलमान पति तलाक़ देने के मामले में करता है।" संयुक्त ही नहीं, एकल परिवारों की स्थिति भी इससे भिन्न नहीं है। आधुनिकता के विकास के बावजूद स्त्रियों के प्रति हमारे नज़रिए में कितना परिवर्तन आया है, इसे समझने के लिए इतना ही काफ़ी है कि बहुत से सभ्य परिवारों में स्त्रियों के साथ भरपूर असभ्यता का व्यवहार किया जाता है। नारियों के बारे में जैसे ही सामाजिक न्याय और मानवाधिकार का सवाल उठता है, वैसे देह की स्वतंत्रता का मसला टपका दिया जाता है। राजकिशोर ने इस प्रसंग में एक और सवाल उठाया है, "क्या आधुनिक स्त्री के पास कोई क्रांतिकारी दर्शन है?" वे यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि बिना क्रांतिकारी दर्शन के संपूर्ण मुक्ति और इसीलिए वास्तविक सामाजिक न्याय संभव नहीं है। "नारीवाद, पर्यावरणवाद और मानव अधिकारों की चेतना आज के क्रांतिकारी दर्शन हैं। .... मानव अधिकारवाद की सीमा यह है कि वह राज्य द्वारा मनुष्य के अतिक्रमण का विरोध तो करता है, किंतु मानव अधिकारों की रक्षा के लिए राज्य पर ज़रूरत से ज़्यादा भरोसा करता है। राज्यवाद की सीमाएँ स्पष्ट हो चुकी हैं। अब लोग सामुदायिक जीवन की ओर ज़्यादा आकृष्ट हो रहे हैं।" सामुदायिकता की एक प्रवृत्ति सामाजिकता में संक्रमण की होती है और एक प्रवृत्ति अपनी अलग पहचान की होती है। सामाजिक न्याय और मानवाधिकार के संदर्भ में पहली प्रवृत्ति की ही प्रासंगिकता है।

स्त्री–पुरुष द्वंद्व को प्राणि विज्ञान भी नहीं मानता, किंतु सामाजिक व्यवस्थाएँ प्राणिविज्ञान से तो संचालित होती नहीं। दलित समाजों के संपूर्ण अर्थशास्त्रीय सर्वेक्षण में स्त्रियों की भूमिका अधिक महत्त्वपूर्ण साबित होती है। फिर भी, किसी ने ठीक ही उन्हें 'गुलामों का गुलाम' कहा है। देश–दुनिया की राजनीतिक–आर्थिक परिस्थितियों में हो रहे परिवर्तनों से दलित महिलाओं की सामाजिक आर्थिक मामलों में कुछ दख़ल बढ़ी है। इस संसदीय लोकतंत्र की नई व्यवस्था

के तहत पंचायतों में उन्हें आरक्षण मिला है, लेकिन यह कहना जल्दबाज़ी होगी कि वे अपने पिता, भाई और पति की मर्ज़ी के विरूद्ध कोई स्वतंत्र और सही निर्णय का अधिकार पा गई हैं। यह एक बड़ी विडंबना है और मानवाधिकार के लिए चुनौती भी। इस चुनौती का सामना शिक्षा और सही सोच से ही किया जा सकता है। "शिक्षा से ही ग्रामीण महिलाओं की स्थिति में परिवर्तन की उम्मीद है। समाज में उच्च मूल्यों की स्थापना के लिए महिलाओं की शिक्षा और विकास पर ध्यान देने की आवश्यकता है, क्योंकि नई सदी में महिलाएँ ही विकास का आधार होंगी।" इस आशा और शुभेच्छा से स्वयं को संबद्ध करते हुए भी इतना कहना चाहूँगा कि उम्मीद को हकीकत में बदलने के लिए क्रांतिदर्शी जनालोड़न होना चाहिए, क्योंकि सामाजिक अन्याय और उत्पीड़न की जड़े बहुत गहरी हैं और इनकी कारक शक्तियों ने किसी भी रूप में अभी हार नहीं स्वीकार की है। उन्होंने अपना रास्ता बदलना शुरू कर दिया है, जो कहीं अधिक कठिनाई पेश कर सकता है।

स्त्री को उसके मूल और सहज अधिकारों से वंचित करने के पीछे सामाजिक–नैतिक पहचान का भेद है। इस भेद को ख़त्म करने के लिए एक स्वतंत्र, विकसित ओर पूर्ण नारीवादी दृष्टिकोण की ज़रूरत है। इस दृष्धिकोण में पुरुष पराधीनता का पूर्णतः प्रतिकार तो होगा, किंतु देह के प्रति अतिरिक्त सजगता या संवेदनशीलता नहीं होगी। मानवाधिकार के नाम पर या नारीवादी स्वतंत्रता के नाम पर औरत को अपनी देह के अनियंत्रित इस्तेमाल की छूट तो नहीं दी जा सकती। वस्तुतः सामाजिक न्याय और मानवाधिकार भी एक़ सापेक्ष मूल्य है, जिससे अनेक मूल्य संबद्ध हैं। सीमोन द बोउवार के अनुसार, "जबतक पूर्ण आर्थिक समानता नहीं हो जाती, तब तक समाज में औरत हमेशा अपनी उपलब्धियों को छोटा करती रहेगी। वे देखती हैं, उसके कमज़ोर प्रयास की तुलना में दूसरी औरतें केवल पत्नी या रखैल बनकर पुरुष की दी हुई सुविधाओं के कारण समाज में अधिक स्थापित हैं। यह पर्यवेक्षण उनकी कुंठा का कारण बनता है।" आर्थिक समानता कैसे आएगी। जब औरत को सामाजिक न्याय हासिल करने का अधिकार मिलेगा और यह अधिकार कैसे मिलेगा, जब उसे सत्ता और स्वामित्व में बराबर का हक़ हासिल होगा। मानवाधिकार की जो मौजूदा संवैधानिक और सैद्धान्तिक ताकत है, उसके बूते यह संभव हो पाएगा – इसमें संदेह है। सामाजिक अन्याय के पीछे जो सिद्धान्त काम कर रहे हैं अथवा मानवाधिकार से संचित करने की जो पूर्व आधुनिक पीठिका है, उसका प्रतिकार तो ठोस सामाजिक सिद्धान्तों के द्वारा ही किया जा सकता है।

वस्तुतः 'सामाजिक न्याय' पद का प्रचलन मंडल कर्मीशन की रिपोर्टो के लागू होने की सरकारी घोषणा के बाद तेज़ी से बढ़ा, जिसमें पिछड़ी जातियों के लिए सरकारी नौकरियों में आरक्षण की व्यवस्था है। इस आरक्षण का आधार आर्थिक और शैक्षणिक नहीं, सामाजिक है, अर्थात् जातीय श्रेष्ठता और हेयता की ज़मीन से प्रतिभा–पहचान पर बल दिया गया । सवाल यह उठा कि उन प्रतिभावान छात्रों के मानवाधिकारों का क्या होगा, जो ऊँची जातियों में पैदा हुए हैं और पैदा होना उनके वश में था नहीं। मंडल कमीशन ने जिन बातों और तथ्यों का विवेचन कर अपनी रिपोर्ट बनाई, उनमें प्रमुख बात यही थी कि जाति की ईंट पर हिंदू समाज की रचना की गई है, लेकिन इस कमीशन की स्थापनाओं का फैलाव हिंदू समाज

तक ही सीमित न रहा। मंडल कमीशन का बौद्धिक और वैचारिक आधार डॉ. राम मनोहर लोहिया की भारतीय समाज की ऐतिहासिक संरचना संबंधी स्थापनाएँ थीं। उनका मानना था कि "छोटी जातियों को शिक्षा संस्थाओं और नौकरियों में आरक्षण मिलना चाहिए। योग्यता न हो, फिर भी उन्हें ऊँचे पदों पर बिठाना चाहिए। अवसर देने के लिए जब तक योग्यता कसौटी होगी, हिंदुस्तानी जनता अपनी योग्यता से वंचित होगी, अर्थात् उसकी योग्यता का विकास तभी होगा, जब योग्य न होने पर भी आदमी को ऊँचे पदों पर बिठाया जाए और संरक्षण कागज़ पर ही रहेगा। देश में जनता के पिछड़े समूहों को उनकी योग्यता का लिहाज़ किए बिना सभी अवसर इस आशा में देने ही होंगे कि ज़्यादा अवसर देने हैं।" इस उल्टी प्रक्रिया से जाति–प्रथा का नाश और जनता की योग्यता पुनर्जीवित होगी।" मंडल आयोग की रिपोर्ट लागू होने के बाद देश में क्या-क्या हुआ? समग्रतः उससे किसको लाभ पहुँचा– यह बताने की आवश्यकता नहीं है, किंतु वामपंथी और दक्षिणपंथी कोई भी राजनीतिक दल या बुद्धिजीवी अब मंडल कमीशन का खुला विरोध नहीं करता, क्योंकि वह सामाजिक नहीं, राजनीतिक एजेंडा बन चुका है और राजनीतिक एजेंडे के अपने 'शार्टकट' होते हैं, तात्कालिक दबाव और हित होते हैं। वैसे भी उल्टी दिशा और प्रक्रिया से गुज़रने में ख़तरा अधिक होता ही है।

लोहिया की स्थापनाओं का समय और था और मंडल कमीशन के लागू होने का समय और है। पिछड़ों के बीच से एक ऐसा वर्ग उभरा है, जो अपनी हैसियत को किसी भी क्षेत्र में उच्च वर्ग से कम करके नहीं आँकता, इसलिए सामाजिक न्याय की लोहियावादी अवधारणा के पुनर्परीक्षण की ज़रूरत है। लोहिया का यह विश्लेषण सही है कि "समाज के दबे हुए समुदायों में सभी औरतों को द्विज औरतों समेत जो कि उचित ही है, शामिल कर लेने पर पूरी आबादी में उनका अनुपात 10 फीसदी हो जाता है। दबी हुई मानवता का इतना बड़ा समुद्र! हिन्दुस्तान के हर 10 में 1 मर्द और औरतें चुप्पी में ऊँघ रही हैं या बहुत हुआ तो जीवित प्रतीत होने वाली चीख़ सुनाई पड़ जाती है। उनके दुबले–पतले अंगों पर आर्थिक और राजनीतिक उन्नति से अपने–आप कुछ चरबी चढ़ सकती है। जाति का नाश करके ही उन्हें स्वाभिमानी बनाया जा सकता है और यह निःसंदेह आर्थिक उन्नति के साथ–साथ होना चाहिए। तभी उन्हें पूरे आदमी के लायक और जागरूक बनाया जा सकता है।" सामाजिक न्याय के समाजशास्त्रीय अध्ययन का यह सबसे महत्त्वपूर्ण पहलू है, जिसका आर्थिक ही नहीं, राजनीति और सांस्कृतिक अध्ययनों से गहरा संबंध है।

मानवाधिकार के अंतर्गत सामाजिक न्याय प्रकारांतर से समाविष्ट है। 15 जून 1915 से लेकर आजतक अनेकशः अवसरों पर, अनेकशः पेचीदगियों के साथ मानवीय अधिकारों को बहाल करने के ऐतिहासिक दस्तावेज़ों को प्रस्तुत करना यहाँ अभीष्ट नहीं है, किंतु जिस मानवाधिकार पद को अपने अध्ययन और विमर्श का विषय हम बना रहे हैं, वह अठारहवीं शताब्दी में अस्तित्व में आया। संयुक्त राष्ट्र के गठन के बाद 1946 में एलोनोद रूज़वेल्ट की अध्यक्षता में मानवाधिकारों के प्रारूप की रचना के लिए मानव अधिकार आयोग का गठन किया गया। 10 दिसम्बर 1948 को संयुक्त राष्ट्र महासभा ने मानवाधिकार दिवस घोषित करने का प्रस्ताव पारित किया। भारत ने मानवाधिकार घोषणा पत्र पर 1948 में हस्ताक्षर किये और उसके

अधिकांश प्रावधानों और मसौदों को संविधान में मौलिक अधिकारों के रूप में शामिल किया। "भारतीय संविधान के विभिन्न अनुच्छेद और उनके माध्यम से की गई घोषणाएँ सार्वभौमिक मानव अधिकार घोषणा से बहुत अधिक साम्य रखती हैं। भारतीय संविधान में सामान्य तथा राजनीतिक अधिकारों को न केवल संरक्षण दिया गया, बल्कि इन्हें पर्याप्त सम्मान भी दिया गया है। संचरण की स्वतंत्रता, निवास की स्वतंत्रता, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को भारतीय संविधान के अनुच्छेद 19 के विभिन्न खंडों में मान्यता दी गई है। प्राण और दैहिक सुरक्षा का अधिकार, न्याय के समक्ष समानता के अधिकार को अनुच्छेद 21 तथा अनुच्छेद 14 द्वारा प्रत्याभूत किया गया है... अनुच्छेद 32 तथा अनुच्छेद 226 द्वारा विभिन्न नागरिकों एवं मानवीय अधिकारों को लागू कराने के लिए संवैधानिक उपचारों का प्रबंध भी किया गया है। इन अनुच्छेदों में दिए गए प्रावधानों के अंतर्गत किसी भी व्यक्ति के आवेदन पर सर्वोच्च न्यायालय अथवा उच्च न्यायालय बंदी प्रत्यक्षीकरण परमादेश प्रतिषेध, उत्प्रेषण अथवा अधिकार पृच्छा रिट जारी कर सकता है।" संविधान प्रदत्त अधिकारों के वास्तविक क्रियान्वयन की समस्या भारतीय समाज की विषमता को देखते हुए अत्यंत कठिन है। पिछली सदी के अंतिम दशक में संवैधानिक मर्यादाओं की अभिरक्षा के लिए कुछ ज़्यादा ही मुश्किलें पैदा हुईं। पूँजीवादी विश्व व्यवस्था ने भी मानवाधिकार पर अपने कोण से अधिक ज़ोर दिया। मानवाधिकार की चर्चा नई क्रांति–भूमि के रूप में होने लगी। भारत में राष्ट्रपति द्वारा सितंबर 1993 में जारी किए गए अध्यादेश के तहत राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग का गठन किया गया, जिसके बाद 1994 में मानव अधिकार संरक्षण अधिनियम पारित किया गया, जिसके अंतर्गत राज्य मानव अधिकार आयोग तथा ज़िलों में मानवाधिकार न्यायालयों की स्थापना की व्यवस्था है। उत्तर प्रदेश में इस आयोग का गठन अपेक्षाकृत देर से हुआ, जबकि राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग की 2002 की रिपोर्ट पर यदि यकीन किया जाए तो उत्तर प्रदेश में मानवाधिकार हनन की 42.17 प्रतिशत घटनाएँ घटित हुईं। वास्तव में, सामाजिक न्याय और मानवाधिकार की समस्या जितनी संवैधानिक जागरूकता से संबंधित है, उससे अधिक भावना, सोच, सदिच्छा, समर्पण और संघर्ष से संबंधित है। इसके लक्ष्य को पाने के लिए एक नए नवजागरण और प्रबोधन की ज़रूरत है। सामाजिक पुनर्रचना की ज़रूरत है। दुनिया भर में घट रही घटनाओं के समानांतर स्थानीय और आंचलिक समस्याओं और घटनाओं–परिघटनाओं को समझने और तदनुरूप रणनीति बनाने की आवश्यकता है। उल्लेखनीय है कि उत्तर प्रदेश में राज्य मानव अधिकार आयोग का गठन 5 अक्टूबर 2002 को हुआ, जो देश का सबसे बड़ा प्रदेश है। यहाँ सबसे अधिक आबादी है और संसदीय लोकतंत्र की दिशा–दशा यहीं से तय होती है। हिंदी प्रदेशों का यह केंद्र है और 'हिंदी जाति' का हृदय है। इस प्रदेश के बौद्धिक, वैचारिक, वैज्ञानिक और सैद्धान्तिक विकास से ही सामाजिक न्याय की दिशा तय होगी।

संदर्भः

1. महावीर/नई सदी भी नहीं तोड़ पायी उत्तर प्रदेश में अछूतपन को –पृष्ठ97
2. राम निहोर विमल/ – –67
3. राम निहोर विमल – –69

4. डॉ. अंबेडकर/डॉ. बाबा साहब अंबेडकर : राइटिंग एण्ड स्पीचीज़ – खण्ड–2 –530 –532
5. – –111.
6. अनुराग मोदी/शेष दुनिया (सं. आचार्य सारथी) जनवरी–मार्च, 03– –72
7. – –74
8. अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के मानव अधिकार – –54
9. डॉ. अंबेडकर/डॉ. बाबा साहब अंबेडकर : राइटिंग एण्ड स्पीचीज़– खण्ड–10 –37
10. शबाना आज़मी/इण्डिया टुडे, 8 सितम्बर, 2003
11. हिन्दी लेखक और उसका समाज/राजकिशोर – –64
12. इरा सिंह/ कुरूक्षेत्र (मासिक पत्रिका) मार्च 2000– –17
13. कथाक्रम : अप्रैल–जून 2003 में डॉ. प्रभा दीक्षित द्वारा उद्धृत – –9
14. डॉ. राम मनोहर लोहिया/जाति प्रथा– –108
15. राजकुमार मिश्र एवं विवेक कुमार मिश्र/प्रतियोगिता दर्पण, मई, 2003– –1798

भारतीय परिवेश और मानवाधिकार

डॉ. हरिओम

मानवीय सभ्यता के विकास के साथ ही साथ मानवीय जीवन को सुरक्षित, शांति–सौहार्दपूर्ण, सद्भावी और समाज के लिए सार्थक बनाने की चिंता भी प्रारम्भ हो गई थी। सभ्यता के विभिन्न चरणों में इसी चिंता ने बौद्धिक, सांस्कृतिक, सामाजिक और अंततः वैधानिक स्तरों पर उस चिंतन–धारा का विकास किया जिसके केंद्र में मानवीय अस्तित्व की महत्ता, मानव मात्र की सर्वोपरिता तथा मानवीय गरिमा की अपरिहार्यता का भाव था, इन्हीं केंद्रीय भावों को कालांतर में मानवाधिकारों के रूप में विस्तार और लोकस्वीकृति मिली। भारतीय परिवेश में मानवाधिकारों की दशा और दिशा पर विचार करने से पूर्व मानवाधिकारों को केंद्र में रखकर विकसित इस चिन्तन–धारा तथा उसके विविध आयामों पर एक नज़र डालना समीचीन होगा।

भारतीय मनीषियों ने मानवीय संबंधों और मानवीय गरिमा को एक उदात्त भावभूमि पर अंकुरित करने के निमित्त प्राचीन काल से ही अद्वितीय संकल्पना प्रस्तुत की जो हर प्रकार की लघुता से ऊपर थी :–

अयं निजः परोवेति गणना लघुचेतसाम्
उदार चरितानाम तु वसुधैव कुटुम्बकम्

(अर्थात् यह अपना है, यह पराया है– यह सोच क्षुद्र चित्त का परिणाम है। उदारचरितों के लिए तो संपूर्ण विश्व एक परिवार के समान है)

जब संपूर्ण मानव जाति को एक परिवार मान लिया गया तो सबके सुख और सदाशयता की सद्भावना भी स्वाभाविक हो उठती है–

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे संतु निरामयः
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुखभाग भवेत्।

(अर्थात् सभी सुखी हों, सभी स्वस्थ हों, सब लोकहित विचारें किसी को कोई क्लेश न हो)। इस श्लोक में मानवाधिकारों का समग्र दर्शन विद्यमान है। उदात्त भारतीय अंतरवेदना के प्रखर शिल्पी गुरू रवीन्द्रनाथ टैगोर की एक काव्योक्ति समग्र सृष्टि में मनुष्य की केन्द्रीयता को कुछ ऐसे रेखांकित करती है–

'सबार ऊपरे मानुस सत्यं
तहार ऊपरे केऊ नाहीं'

(अर्थात् सबसे ऊपर मानवीय सत्य है उसके ऊपर कुछ भी नहीं है)। मानवाधिकारों के संदर्भ में मनुष्य की सर्वोपरिता अंततः उस विश्व दृष्टि का विकास करती है जिसे महाकवि भक्त गोस्वामी तुलसीदास ने अपने रामचरितमानस में 'लोक मंगल' की दृष्टि के रूप में प्रतिपादित किया है। संक्षेप में यही वह भारतीय चिंतन परंपरा है जिस पर आगे चलकर मानवाधिकार संबंधी एक सुसंगत विचारधारा और उसके विविध आयामों का विकास होता है और उसे लोक स्वीकृति के साथ ही साथ वैधानिक सम्मति भी प्राप्त होती है। वैधानिक सम्मति मिलते ही मानवाधिकार नैतिक या नैसर्गिक से आगे चलकर विधिमान्य, मानवोचित अर्थात् कहीं ज़्यादा व्यापक और अर्थपूर्ण हो जाते हैं । दूसरे शब्दों में, नैतिक अधिकार किसी व्यक्ति विशेष की विशेष स्थिति या पहचान के चलते होते हैं। जैसे माता, पिता, शिक्षक, न्यायाधीश आदि के अधिकार, जबकि मानवाधिकार मानव मात्र को मानव होने के नाते समान रूप से प्राप्त होते हैं।

आधुनिक अर्थों में मानवाधिकारों की सार्वभौम स्वीकृति और उद्घोषणा विश्व पटल पर संयुक्त राष्ट्र के मसौदे में 1948 को की गई । यही मसौदा मानवाधिकारों के वर्तमान स्वरूप और विकास की आधार भूमि है। जिसमें कहा गया है कि –

सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक तथा मानवीय समस्याओं के निवारण तथा मानवीय अधिकारों तथा मानवीय स्वतंत्रताओं को बिना जाति, लिंग भाषा अथवा धर्म के भेदभाव के प्रोत्साहित करना संयुक्त राष्ट्र का उद्देश्य है।

संयुक्त राष्ट्र संघ ने अपने उदय के बाद विश्व पटल पर मानवीय गरिमा को सुरक्षित, संवर्धित और स्थापित करने के उद्देश्य से अनेकानेक प्रतिज्ञा पत्र और संधियाँ अंगीकृत कीं किंतु, वैश्विक पटल पर मानवाधिकारों से संबंधित आदेशों के प्रतिपादन के अतिरिक्त संयुक्त राष्ट्र संघ के पास इन्हें सर्व स्वीकार्य बनाने या क्रियान्वित करने की शक्ति या प्रणाली विकसित नहीं हो सकी, जैसा कि दूसरे विश्व युद्ध के बाद से हाल के वर्षों तक अनगिनत उदाहरणों से देखा–समझा जा सकता है।

भारतीय चिंतन परंपरा में मानवीय गरिमा की प्रतिष्ठा की भावधारा काफ़ी पुरानी है। इसी भावधारा को भारतीय संविधान के अध्याय तीन में मौलिक अधिकारों के रूप में प्रतिपादित किया गया है जिसमें मनुष्य मात्र के सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक और शोषण के विरुद्ध अधिकारों की सुविचारित और व्यापक प्रस्तुति है। उच्चतम न्यायालय की व्याख्या के अनुसार संविधान के अनुच्छेद 21 का अभिप्राय यह है कि भारत में रहने वाले सभी लोगों को मानवीय गरिमा से जीने का अधिकार है।

राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग ने अपनी वार्षिक रिपोर्ट 2000–01 में मानव अधिकारों के संबंध में आयोग का दृष्टिकोण तथा आयोग की गतिविधियों के नियामक मार्ग निर्देशों का व्यापक परिप्रेक्ष्य प्रस्तुत किया है ....''बीतने वाले हर वर्ष के साथ आयोग का यह विश्वास

दृढ़ होता जा रहा है कि मानवीय गरिमा के साथ जीवन जीने का अधिकार यह अपेक्षा करता है कि व्यक्ति को हर दृष्टि से सम्मान दिया जाए। इस बात से एक निष्कर्ष यह भी निकलता है कि आयोग द्वारा आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अधिकारों तथा सामूहिक अधिकारों पर भी इतना ध्यान दिया जाना आवश्यक है जितना कि वह नागरिक और राजनीतिक अधिकारों की ओर देता है। अधिकारों की अविभाज्यता और परस्पर संबंध एक वास्तविकता है और ये एक दूसरे पर निर्भर करते हैं।......." (पृष्ठ 1–2 प्राक्कथन) आयोग ने इसी क्रम में राष्ट्रीय एकता और अखंडता तथा व्यक्ति की गरिमा को परस्पर पूरक माना है तथा दोनों के सरंक्षण पर बल दिया है।

यदि देखा जाए तो यही वह कमोवेश संतुलित सैद्धान्तिक परिप्रेक्ष्य है जिसके अंतर्गत मानव अधिकारों पर बहस की जानी चाहिए, किंतु किसी विशेष सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक परिवेश में मानव अधिकारों पर बात करनी हो तो सिर्फ़ इस सैद्धान्तिक परिप्रेक्ष्य से काम नहीं चलेगा। ऐसे मनुष्य या उसके समूह–समुदाय की सामाजिक–आर्थिक स्थिति, राजनैतिक अहमियत तथा सांस्कृतिक अस्मिता का विशेष संदर्भ और उसकी समीक्षा आवश्यक हो उठेगी। भारतीय परिवेश में मनुष्य से मनुष्य के तथा समुदाय से समुदाय के रिश्तों के नियामक तत्व इतने जटिल और बहुस्तरीय हैं कि उनपर सीधे समाधान तक नहीं पहुँचा जा सकता। तेज़ी से बदलते विश्व घटनाक्रम तथा देश के सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक परिदृश्य के बीच मानवाधिकारों को अनगिनत संकटों का सामना करना पड़ रहा है और यह कहना साफ़गोई होगी कि इनमें से अधिकांश संकटों का सजग–सृष्टा मनुष्य स्वयं है। ऐसे में स्वाभाविक है कि मनुष्य के अधिकारों पर चर्चा करते समय एक ज़्यादा बेहतर और प्रतिबद्ध दृष्टिकोण की ज़रूरत है। राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग ने अपनी रिपोर्ट में यह दृष्टिकोण स्पष्ट किया है–

"यदि विचार किया जाए तो राष्ट्र की राजनैतिक तथा आर्थिक शक्ति सुनिश्चित करने व इसकी एकता को बरकरार रखने के लिए सबसे पहले, सबसे कमज़ोर तथा उपेक्षित लोगों की गरिमा का संरक्षण करना होगा। इस प्रकार हमारे गणतंत्र की सीमाओं की प्रतिरक्षा हमारे नागरिकों की प्रतिरक्षा और उसमें भी सबसे कमज़ोर व्यक्ति की प्रतिरक्षा से आरंभ होती है। इसलिए आयोग आग्रह करता रहा है कि सवसे संवेदनशील व्यक्तियों अर्थात् स्त्रियों और बच्चे, विशेष रूप से लड़कियाँ, बँधुआ तथा बाल मज़दूर और अवैध व्यापार के शिकार लोग, दलित और आदिवासी अल्पसंख्यक समुदाय के लोग विकलांग और प्राकृतिक आपदाओं तथा बड़ी परियोजनाओं से बेघर और विस्थापित हुए लोगों के अधिकारों की ओर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए। यदि राष्ट्र अपनी महान शक्ति और भाग्य का भरपूर लाभ उठाना चाहता है, तो इन लोगों के शिक्षा, स्वास्थ्य, पोषण और आश्रय के अधिकारों को संवर्धित करना होगा" (वही, पृ. 2)

इसी कड़ी में यदि दंगा पीड़ितों, युद्धोन्माद के शिकार तथा सत्ता (सेना, पुलिस और न्याय प्रणाली) का दमन झेलने वाले लोगों को शामिल कर लिया जाए तो मानव अधिकारों की लड़ाई के मोर्चों की बात लगभग पूरी हो जाती है। प्रस्तुत आलेख में इन सभी मोर्चों

पर एक संक्षिप्त नज़र डालने का प्रयास किया जाएगा पर उससे पहले हमें भारतीय परिवेश को समझने का प्रयास करना चाहिए।

आलेख के आरंभ में मनुष्य की सर्वोपरिता और विश्व बंधुत्व की जिस चिंतन धारा की बात की गई है, वह परिवेश और समाज की तथा–कथित मुख्य धारा है। यदि इसे ही संपूर्ण भारतीय भाव परंपरा मान लिया जाए तो भारतीय संविधान ने मूलाधिकारों के रूप में मानवाधिकारों के आदर्श रूप को साकार करने का संकल्प लिया है, किंतु पूरा संविधान भारतीय परिवेश के उन पहलुओं की ओर स्पष्ट संकेत नहीं करता जिनके चलते इस आदर्श रूप को साकार करना संभव नहीं हो पा रहा है।

भारतीय संविधान, विचार और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता देता है किंतु भारतीय परिवेश, जाति, समाज और राष्ट्र के हित में उसे सीमित कर देता है। संविधान, क़ानून के समक्ष समानता और न्याय पाने का अधिकार देता है किंतु आर्थिक विषमता, अज्ञानता, क़ानून, न्याय प्रणाली का दुश्चक्र उससे यह अधिकार छीन लेता है। संविधान शोषण के विरुद्ध अधिकार देता है, किंतु परिवेश का विमर्श, भाषा, जाति, लिंग भेद की सच्चाई और पूँजी आधारित अर्थ–व्यवस्था इसे छीन लेती है। संविधान धार्मिक आचरण की स्वतंत्रता का अधिकार देता है, पर परिवेश का बहुसंख्यवादी आतंक इसे सीमित कर देता है। संविधान सांस्कृतिक तहज़ीब और अपनी भाषा के संरक्षण का अधिकार देता है, किंतु संसाधनों का अभाव, उपभोग का विकल्प और अल्पसंख्यकों की संस्कृति के प्रति सरकारी उपेक्षा इसे भी बेमानी कर देती है। ऐसा परिवेश जहाँ 'शूद्र, गँवार, पशु और नारी स्वतः उत्पीड़न के अधिकारी हों,' जहाँ पुलिस की गोली से मरने वाले हर व्यक्ति का अपराधी और नक्सली होना तय हो, जहाँ अर्द्ध–सैनिक बलों को समुदाय विशेष के लोगों के दमन का अलिखित अधिकार हों, जहाँ न्याय पाने के लिए पीढ़ियों इंतज़ार करना पड़े, जहाँ दंगों और दुर्घटनाओं पर राजनीति करना रोचक हो, जहाँ देशज़ अर्थव्यवस्था की कब्रगाह पर बहुराष्ट्रीय पूँजी के आकाशद्वीप झिलमिलाते हों, जहाँ किसानों, मज़दूरों, महिलाओं और आदिवासियों के शोषण और संघर्षों पर देश का सबसे तेज़ न्यूज़ चैनल कभी कोई बात नहीं करता हो, पर दिल्ली मेडिकल कालेज की छात्रा के साथ बलात्कार और सचिन के फरारी के प्रकरण पर पल–पल नज़र रखता हो, जहाँ संपूर्ण ग्रामीण रोज़गार योजना के रूप में खाए–खपाए न जा सकने वाले खाद्यानों के बावजूद कालाहांडी (उड़ीसा) और नौगढ़ (उ.प्र.) हो, या फिर जहाँ ज़बरन देश–प्रेम और मातृभक्ति का पाठ पढ़ाने वाले छापाखानों और गिरोहों को पूरी आज़ादी और संरक्षण हो, वहाँ मानव मात्र की अस्मिता, उसकी आशाओं, अपेक्षाओं और सपनों की सुरक्षा आसान नहीं।

सुविधा और समझ के लिहाज़ से भारतीय परिवेश के कुछ पहलुओं पर संक्षेप में चर्चा ज़रूरी है। हालाँकि यह पहलू एक दूसरे में गुंथे हुए हैं और मिलकर उस परिवेश का सृजन करते हैं जो एक मनुष्य के लिए घातक हैं–

अल्पसंख्यक भारत और मानवीय स्वतंत्रता

मनुष्य मात्र की स्वतंत्रता, समानता और गरिमा मानवाधिकार संबंधी संकल्पना की बुनियाद है। कहना न होगा कि गत वर्ष घटित गुजरात हादसे ने इस बुनियाद को ध्वस्त करने में

कोई कोर–कसर बाकी नहीं रखी। आज़ादी के बाद देश विभाजन के परिणाम स्वरूप एक ही ज़मीन पर जिस तरह हिन्दू और मुस्लिम अस्मिताएँ टकराई थीं यह परिघटना उस ऐतिहासिक दुर्घटना को भी शर्मसार करती है। गोधरा कांड तथा गुजरात दंगा जिस तरह घटित हुआ, उससे कहीं–न–कहीं यह आभास होता है यह महज़ हादसा नहीं था, एक सुनियोजित कत्लेआम था जिसने समूची दुनिया का ध्यान हमारी ओर खींचा और यह संदेश गया कि हम एक ऐसे परिवेश में जी रहे हैं, जहाँ मानवीय मूल्यों और अधिकारों की बात करना बेमानी है। यह अनायास नहीं है कि इस हादसे ने मानव की चिंता करने वाले संगठनों की मुहिम को करारा झटका दिया । राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग के अस्तित्व के लिए यह परिघटना एक बड़ी चुनौती थी, देश, समाज, व्यवस्था तथा जनवादी संस्थाओं के लिए तो गहरा आघात था ही। इस हादसे ने उस कथित मानववादी मुख्यधारा पर सवालिया निशान लगा दिया जो 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' और 'वसुधैव कटुम्बकम्' की बात करती है।

गुजरात परिघटना ने पूरे भारतीय परिवेश को दहला दिया। मानवाधिकारों से जुड़ी हुई लगभग सभी संस्थाओं ने इस हादसे के कारणों और परिणामों की अपने–अपने हिसाब से परख की। राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग को भी इस हादसे के संदर्भ में अपनी भूमिका को पुनर्निर्धारित करना पड़ा और बेस्ट बेकरी कांड के जरिए राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग की इस नवीन भूमिका से मानववादी मूल्यों में आस्था रखने वालों में एक नई आशा जगी। पीपुल्स यूनियन फॉर सिविल लिबर्टीज़, पीपुल्स यूनियन फॉर डेमोक्रेटिक राइट्स, पीपुल्स यूनियन फॉर ह्यूमन राइट्स तथा ह्यूमन राइट्स वाच जैसे मानवाधिकार संगठनों ने अपनी रिपोर्टों में राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग की इस भूमिका की सराहना की है। आयोग ने हाल ही में बेस्ट बेकरी समेत गुलबर्गा सोसायटी, महसाना, सरदार पुरा तथा नरोदा पार्टिया जैसे अन्य कांडों को गुजरात से बाहर स्थानांतरित करके निष्पक्ष माहौल में सुनवाई के लिए सर्वोच्च न्यायालय में अपील दायर की है। आयोग के इस क़दम पर गुजरात दंगों के लिए ज़िम्मेदार दलों और संगठनों ने कड़ा ऐतराज़ जताया है और आयोग को अपनी सीमा में रहने का दिशा निर्देश दिया है। मानवाधिकारों की बात करने वालों को यह नहीं भूलना चाहिए कि हम एक ऐसे परिवेश में जी रहे हैं जिसमें कुछ दलों और संगठनों के सामने मानवीय मूल्य मानव अधिकार तो क्या क़ानून व्यवस्था, जनहित या जनवादी मूल्यों की संरक्षण संस्थाओं की अपनी कोई अहमियत नहीं है। यह संगठन हमारे समाज के मूल्यों और हमारे आचरण को स्वयं निर्देशित, नियंत्रित करना चाहते हैं और उनकी इस हिमाक़त पर देश का शासन, प्रशासन रहस्यमय चुप्पी साधे हुए है, बल्कि जनतांत्रिक परिवेश को बचा रखने की चिंता में सक्रिय संस्थाओं पर करारा प्रहार भी किया गया, चाहे वह चुनाव आयोग हो या मानवाधिकार आयोग। हम जिस देश–समाज में जी रहे हैं, उसमें क्या सिर्फ़ हिंदू और बहुसंख्यक वर्ग ही जीवन का अधिकारी है? क्या 'मुसलमान भारत' को जीने का अधिकार नहीं है? क्या उसकी चिंता करने पर मानव अधिकार आयोग और अन्य संगठन देश–राष्ट्र–हिंदू विरोधी हो जाएंगे?

20 मार्च को जस्टिस जे.सी. वर्मा के नेतृत्व में आयोग का प्रतिनिधि मंडल अहमदाबाद, गोधरा और बड़ोदरा के तीन दिवसीय दौरे पर गुजरात गया। वहाँ से लौटकर दिल्ली की

एक प्रेस वार्ता में जस्टिस वर्मा ने 23 मार्च को भारतीय परिवेश का एक मार्मिक शब्द चित्र प्रस्तुत किया' "गुजरात के हिंसाग्रस्त इलाकों में जो कुछ भी मैंने सुना और देखा है उसके सदमे से उबरने में मुझे अभी दो दिन और लगेंगे। महिलाओं ने मुझे जो कुछ बताया है, वह इतना भयानक और अमानवीय है कि मैं उसका बयान भी नहीं कर सकता। गोधरा कांड के एक महीने बाद भी स्थिति सामान्य से बहुत दूर है। चाहे वे किसी भी धार्मिक समुदाय के हों, उन्हें सुरक्षा का आश्वासन मिलना चाहिए।" मीडिया, आयोग तथा अन्य मानवतावादी संगठनों की जांच रिपोर्टों में निःसंदेह इन हादसों के लिए गुजरात सरकार को कटघरे में खड़ा किया गया।

गुजरात में सिर्फ़ कत्लेआम ही नहीं हुआ महिलाओं और बच्चियों का बर्बर बलात्कार, संप्रदाय विशेष के आर्थिक प्रतिष्ठानों को ख़ाक करने के साथ ही ऐसे परिवारों के साथ चुन–चुनकर बर्बर सलूक किया गया जिसमें स्त्री या पुरूष में से कोई न कोई हिंदू था। (औरतों के पहलू से गुजरात का एक सफ़रनामा, शुभ्रा नगालिया, समकालीन, जनमत, अप्रैल, जून 2002, पृष्ट 149) अर्थात् विवाहित हिंदू–मुस्लिम जोड़ों को ख़ासतौर पर निशाना बनाया गया। गुजरात में छोटे बच्चों को त्रिशूल और तलवारों से चीर दिया गया। यह उस परिवेश का एक पहलू है जिसमें हमें मानवाधिकारों की रक्षा के लिए कोशिशें करनी हैं। गुजरात दंगों में जहाँ 293 दरगाहों और 202 इबादतगाहों को ज़मींदोज़ किया गया, वहीं मानवीय मूल्यों और मानवाधिकारों को भी दफ़न किया गया (वहीं)। प्रसिद्ध कवि मंगलेश डबराल की, इस भयंकर त्रासदी और मुस्लिम भारत के विभक्त परिवेश का बयान करती कविता की कुछ पंक्तियां उद्धृत करना जरूरी है–

और मुझे इस तरह मारा गया
जैसे मारे जा रहे हों, एक साथ बहुत से दूसरे लोग————————
————————————और जब मुझसे पूछा गया तुम कौन हो
क्या छुपाए हो अपने भीतर एक दुश्मन का नाम
कोई मज़हब, कोई ताबीज़
मैं कुछ कह नहीं पाया, मेरे भीतर कुछ नहीं था
सिर्फ़ एक रंगरेज, एक मिस्त्री, एक कारीगर, एक कलाकार
एक मजूर था
जब मैं, अपने भीतर मरम्मत कर रहा था
किसी टूटी हुई चीज़ की,
जब मेरे भीतर दौड़ रहे थे,
अल्युमिनीयम के तारों की साइकिल के नन्हे पहिए,
तभी मुझ पर गिरी एक आग, बरसे पत्थर
और जब मैंने आख़िरी इबादत में अपने हाथ फैलाए
तब तक मुझे पता नहीं था, बंदगी का कोई ज़बाव नहीं आता।
(गुजरात के मृतक का बयान)

दलित प्रश्न और समता मूलक समाजः–

मानव मात्र की स्वतंत्रता, समानता और गरिमा को रेखांकित करने वाले उदार भारतीय परिवेश की असली तस्वीर बेहद भयावह और मार्मिक है। मुस्लिम अस्मिता के अनसुलझे सवालों के बीच दलित समाज और उसके प्रति शेष भारत के नज़रिए का यक्ष–प्रश्न आता है। यह वह समाज है जिसे सभ्यता के विकास में जबरन पीछे ढकेला गया, जिसे ज़मीन, हवा, पानी जैसे प्राकृतिक प्रदायों में भी उचित हिस्सेदारी नहीं दी गई, समाज और मानवीय मूल्यों में हिस्सेदारी तो दूर की बात है। दलित वर्ग की पीड़ा इसलिए भी अपेक्षाकृत घनी है कि इसका विस्तार हिंदू और मुसलमान दोनों संप्रदायों के बीच है। इस समाज को दलित वंचित होने की नियति का ख़ामियाजा लगातार उत्पीड़न, उपेक्षा और उपहास झेल कर भुगतना पड़ा और ऐसे तमाम मामले मानवाधिकार संगठनों की रिपोर्ट में भरे पड़े हैं। यहाँ मैं सिर्फ़ एक मामले का ज़िक्र करूँगा।

उत्तर प्रदेश के गाज़ीपुर जनपद का एक गाँव है शेरपुर। वहाँ भूमिहार और दलित बिरादरी एक साथ रहते है। ठीक वैसे, जैसे शेर और बकरी। आबादी का अनुपात 80–20 का है। ऐसे में जैसे मानवीय संबंध हो सकते हैं, इनके बीच भी रहे। आज़ादी के बाद से कभी भी इस गाँव की दलित आबादी को चुनाव में वोट डालने नहीं दिया गया, चुनाव लड़ने की तो बात ही क्या? कहते हैं कि यह गाँव एशिया का दूसरा सबसे बड़ा गाँव हैं, आबादी के लिहाज़ से। हमेशा भूमिहार बिरादरी का प्रधान रहता आया है। दलितों की सारी ज़मीनों–संसाधनों और सपनों पर इसी का क़ब्ज़ा रहा। दलितों को गाँव से दूर एक किनारे ऊचें टीले जैसे भूखंड पर जानवरों की तरह बसाया गया है। आस–पास की जमीन नीची है। बारिश के पूरे मौसम में यह भूखंड एक टापू में तबदील हो जाता है। चारों तरफ पानी भर जाता है। शेष गाँव को इस भूखंड से जोड़ने के लिए कोई संपर्क मार्ग नहीं था। घर इतने छोटे और सँकरे थे कि रहने वाला घुटन से मर जाए। इस विशाल गाँव में सन् 90–91 के आस–पास एक हादसा हुआ था। किन्ही अज्ञात व्यक्तियों ने एक भूमिहार की हत्या कर दी थी, जिसे समूची भूमिहार बिरादरी ने दलितों द्वारा बुलाए नक्सलियों का दुस्साहस क़रार दिया। परिणाम स्वरूप कुछ दिनों के भीतर छह–सात दलितों को उनके घरों में बंद करके आग के हवाले कर दिया गया। ज़िला प्रशासन को इसकी भनक लगी तो ज़िला मजिस्ट्रेट दल–बल के सहित गाँव की ओर रवाना हो गये। उन्हें गाँव के बाहर भूमिहारों ने रोक लिया और कहा कि दलितों के राख़ हो जाने तक आप वहाँ नहीं पहुँच सकते और प्रशासन इस दबंग एकता के आगे विवश हो गया। इस घटना के बारह बरस बाद भी न शेरपुर बदला और न दलितों की नियति–हाँ बहुजन समाज पार्टी की सरकार में दलितों ने चीख–पुकार मचाई तो ज़िला प्रशासन को गाँव का दौरा करना पड़ा। डी.एम., एस.पी. और मुख्य विकास अधिकारी (मैं स्वयं) गाँव पहुंचे। आज़ादी के बाद पहली बार शेष गाँव से दलित बस्ती को जोड़ने के लिए ईंटे आईं और संपर्क मार्ग बना। भूमिहारों के क़ब्ज़े से बड़े मनुहार के बाद ज़िला प्रशासन ने दलितों को भूमि वापस दिलाई। ईश्वर जाने अभी तक वो ज़मीन दलितों के क़ब्ज़े में है या वापस भूमिहारों के पास पहुँच गई। शेरपुर या ऐसे सैकड़ों गाँव शायद

अभी भी मानवाधिकारवादी संगठनों या आयोगों की बाट जोह रहे हैं, जिन्हें गरिमा तो दूर, गुलामी से छुटकारा अभी तक नहीं मिल पाया है।

समाज की महिला दृष्टि और मानवीय गरिमा

हमारे घर, समाज, परिवेश और इन सबका नियमन करने वाले मूल्यों का एक कोना और है, जिसमें स्त्री रहती है। पुरुष समाज कहता है कि स्त्री दया, माया, ममता और स्नेह की प्रतिमूर्ति है और यही उसकी सार्थकता और महानता है। स्त्री भी अपने बारे में कुछ ऐसा ही सोचती है। स्त्री पुरुष समाज के प्रति अपने त्याग, बलिदान और समर्पण को अपनी गरिमा समझती है। पुरुष और स्त्री समाज की यही महिला दृष्टि सामाजिक संबंधों के उस समीकरण को जन्म देती है, जिसमें पुरुष और महिला के बीच जाने–अनजाने शोषक और शोषित का रिश्ता क़ायम हो जाता है। यह महज़ संयोग नहीं है कि दलित मुस्लिम, आदिवासी या युद्ध–ज़्यादतियों के ज़्यादातर मामले महिलाओं के शोषण, उत्पीड़न और बलात्कार से संबंधित होते हैं। महिलाओं की नियति हर तबक़े में कमोबेश एक जैसी है। हमारे परिवेश ने उनके अवचेतन को कुछ इस प्रकार विकसित किया है कि वे अपनी सार्थकता या तो पुरुष का शिकार बनने में पाती हैं या हथियार बनने में। शिक्षित, सजग, आत्मचेतस, आधुनिक स्त्री भी कहीं–न–कहीं पुरुष द्वारा बनाए गए सामाजिक और आर्थिक तंत्र के शोषण का शिकार हो रही है। पितृ–सत्ता के नए–नए रूपों ने स्त्री को आज भी अपने दुश्चक्र में फँसा रखा है। भारतीय परिवेश में, मानव अधिकारों के परिप्रेक्ष्य में, अभी भी महिलाओं को मानवीय समानता, ग़रिमा, पारिवारिक संबंध, आधुनिकीकरण, औद्योगिकीकरण, संपत्ति संबंधों की पुनर्व्याख्या, इतर–लिंगी यौन संबंधों की अनिवार्यता तथा राज्य–संस्था की हस्तक्षेपकारी भूमिका, जैसे सवालों पर एक लंबी लड़ाई लड़नी है। बिना इस लड़ाई को जीते पुरुषों के समान मानवाधिकारों की कल्पना स्त्री समाज के लिए असंभव होगी।

पूरी दुनिया के साथ–साथ भारत में स्त्री देह का अवैध कारोबार, पुरुष समाज की ज़रुरतों की आड़ में फल–फूल रहा है।

आर्थिक साम्राज्यवाद तथा नवमानववाद

दुनिया के उद्यमी देशों ने उन्नति के शिखर पर पहुँचने के लिए जिस विकास यात्रा पर कदम बढ़ाया था उसका पहला पड़ाव दूसरे विश्व युद्ध के रूप में हमारे सामने आया था। तब से लेकर, आर्थिक साम्राज्यवाद के रास्ते मानववाद के ध्वंस की एक नई परंपरा चल निकली थी। खाड़ी युद्ध और हालिया इराक युद्ध इस विकास यात्रा के नए पड़ाव रहे। इराक वह एक उदाहरण है जिसे आर्थिक साम्राज्यवाद ने ऊपरी तौर पर नेस्तनाबूद किया, किंतु भारत जैसे अन्य तमाम विकासशील देशों को चुपचाप आर्थिक साम्राज्यवाद ने वैश्वीकरण, उदारीकरण, नवीन तकनीक और यांत्रिकी के हस्तांतरण, विश्व व्यापार संगठनों एवं पूँजी निवेश और श्रम के नवीन मानकों के माध्यम से अपनी चपेट में ले लिया है। कहना न होगा कि भूमंडलीकरण और उदारीकरण के बाद बहुराष्ट्रीय पूँजी और तकनीक ने जिस तरह भारतीय परिवेश में अपने पाँव पसारे हैं, उसने बड़े पैमाने पर भारतीय आबादी को बेरोज़गारी, भुखमरी, शारीरिक और

मानसिक शोषण के हवाले कर दिया है। आधुनिकता, मनोरंजन और आर्थिक विकास के नाम पर स्त्री देह का अश्लील विज्ञापन किया जा रहा है। देशज़ अर्थव्यवस्था को ध्वस्त करने के बाद विदेशी पूँजी ने बाज़ार पर एकाधिपत्य जमाना शुरू कर दिया है। अपना उत्पाद बेचने के लिए हमारे देश की आबादी को ये ताकतें विज्ञापन, उत्पाद और उपभोक्ता के रूप में एक साथ इस्तेमाल कर रही हैं। आर्थिक साम्राज्यवाद ने जहाँ एक ओर मनुष्य के समक्ष विकल्पहीनता का संकट खड़ा कर दिया है, वहीं शिक्षा और संवेदना के स्तर पर भी बाज़ार संस्कृति ही निर्णायक और नियामक साबित हो रही है। फास्ट फूड, शीतल पेयों ने शहरी आबादी की खाने–पीने की आदतों को बदल दिया है। देशज उत्पादों के विदेशी संस्करण चौगुने दाम पर बिक रहे हैं और भारतीय किसान–मज़दूर भूखों मरने के लिए बाध्य हो रहे हैं। अनियोजित और अनियंत्रित शहरीकरण ने जहाँ एक ओर गाँवों को उजाड़ दिया, वहीं शहरों में स्वास्थ्य, शिक्षा, सादगी और नैतिक मूल्यों का संकट खड़ा कर दिया। बाज़ार और उपभोक्ता समाज पर वर्चस्व की इस मुहिम में भारतीय परिवेश पिस रहा है। क्या मानवाधिकारों में शुद्ध हवा–पानी, घर, काम–काज और जीवन की सुरक्षा के प्रति निश्चिंतता का अधिकार शामिल नहीं है ? अभी हाल में ही पेप्सी और कोक जैसे शीतल पेयों में स्वास्थ्य के लिए हानिकारक रसायनों की सूचना और इसके तुरंत बाद इस पर सरकारी हस्तक्षेप के अंदाज़ ने यह बात बिल्कुल स्पष्ट कर दी है कि हमारे अपने परिवेश में फल–फूल रहा आर्थिक साम्राज्यवाद, मानववाद की जिस नवीन धारणा को लेकर आगे बढ़ रहा है उसका पहला और अंतिम सिद्धांत यह है कि मनुष्य की स्वतंत्रता, समानता, स्वास्थ्य, शिक्षा, चेतना और गरिमा को पैसों के बदले खरीदा जा सकता है।

भौतिक–वैचारिक तंत्र और मानवाधिकार

हाल ही में रिलीज़ प्रसिद्ध निर्देशक प्रकाश झा की चर्चित फिल्म 'गंगाजल' ने मानवाधिकार और प्रशासन–सत्ता के भौतिक तंत्र से संबंधित अत्यंत महत्त्वपूर्ण मुद्दे पर बहस को आगे बढ़ाया है। यह फिल्म बिहार के भागलपुर जिले में 1980 के दशक में पुलिस द्वारा अपराधियों को सज़ा देने के लिए चलाए गए आपरेशन 'गंगाजल' के आधार पर बनाई गई है। अपराध और राजनीतिक शक्ति का समीकरण इतना मज़बूत है कि पुलिस, आम जनता को अपराधियों से मुक्ति दिलाने के लिए बर्बर तरीके अपना लेती है। अपराधियों की आँखें फोड़कर उसमें तेज़ाब डाल दिया जाता है। इस कृत्य को वहाँ की जनता का ज़बरदस्त समर्थन प्राप्त है, क्योंकि जनता अपराध और भय से काफी अरसे के बाद बड़ी राहत महसूस करती है, किंतु फिल्म का नायक और पुलिस का मुखिया अजय देवगन, लगातार आँख फोड़ने के इस अभियान के फासीवादी परिणामों और मानवीय मूल्यों के हनन को लेकर न सिर्फ़ चिंतित हैं, वरन् पुलिस की इस बर्बरता को रोकने के लिए प्रयत्नशील भी है। यह फिल्म बड़े ही प्रभावशाली तरीके से मानवाधिकारों के व्यापक परिप्रेक्ष्य और सत्ता के भौतिक–वैचारिक तंत्र की भूमिका पर प्रकाश डालती है।

भौतिक तंत्र से अभिप्राय किसी भी प्रणाली के उस अंग से है जो सामान्यतः दिखाई पड़ता है और उस प्रणाली को अक्षुण्ण बनाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है, जैसे शासन

के लिहाज़ से पुलिस, अर्धसैनिक बल, सेना, जेल, परमाणु केंद्र, लोक कल्याणकारी राज्य के लिहाज़ से स्कूल, अस्पताल, आदि–आदि। वैचारिक तंत्र उन नियमों, कायदों, संहिताओं और मूल्य पद्धतियों को कहते हैं जिससे उसकी आवश्यकता और अनिवार्यता के पक्ष में जनमत तैयार किया जाता है, जैसे–संचार, समाचार माध्यम, पाठ्य–पुस्तकें, शोध–निष्कर्ष आदि–आदि। कोई भी प्रशासनिक, शासकीय या सामाजिक व्यवस्था इन दोनों तंत्रों पर निर्भर करती है।

यह अनायास नहीं है कि मानवाधिकार उल्लंघन के नाम पर आम आदमी के मन में पुलिस की बर्बरता, जेल में कैदियों के साथ अमानवीय व्यवहार, आतंकवाद या उग्रवाद प्रभावी क्षेत्रों में सेना द्वारा किया जाने वाला उत्पीड़न, युद्ध के दौरान सैन्य हिंसा की तस्वीर उभरती है। हाल के गुजरात दंगों, इराक युद्ध आदि में मानवाधिकारों का ख़ौफ़नाक उल्लंघन सामने आया। प्रदेश में पुलिस बर्बरता और मिथ्या मुठभेड़ों में निर्दोष लोगो के मारे जाने की अनेक घटनाएँ इधर प्रकाश में आई हैं। सवाल यह है कि एक सभ्य समाज में, क़ानून व्यवस्था बनाए रखने के नाम पर, क्या किसी भी एजेंसी को मानव हत्या का यह अधिकार दिया जा सकता है? क्या जनमत पक्ष में होने मात्र से 'गंगाजल' जैसे पुलिसिया अपराधों या गुजरात दंगों का औचित्य साबित किया जा सकता है?

भौतिक तंत्र से अलग वैचारिक तंत्र कहीं अधिक कारगर तरीके से मानवाधिकारों के उल्लंघन की ज़मीन तैयार करता है। इराक युद्ध या गुजरात दंगों के दौरान आततायी पक्ष की ओर से सूचना एजेन्सियों, टी.वी. चैनलों तथा समाचार पत्रों ने जनमत पक्ष में करने की जो भूमिका निभाई वह क़ाबिले ग़ौर है। निष्पक्ष सूचना देने वालों पर आतताइयों का कहर भी टूटा। साबरमती में पत्रकारों पर भीषण लाठी चार्ज यही बताता है। आज बच्चों और महिलाओं के बारे में भारतीय परिवेश या समाज की जो वैचारिक या मूल्यगत स्थिति है, उसके चलते ही घर के भीतर या बाहर महिलाओं का भरपूर शारीरिक, मानसिक व नैतिक शोषण हो रहा है। बच्चों का शोषण भी मानवाधिकारों के क्षेत्र में काम करने वाली संस्थाओं के लिए एक चुनौती है।

अब सवाल उठता है कि परिवेश के इन पहलुओं के बीच हम कहाँ खड़े हैं या मानव अधिकार या गरिमा के लिए संघर्ष करने वाली संस्थाओं के लिए यह ज़मीन कितनी पुख़्ता है? यह सही है कि राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग के गठन के बाद इस दिशा में काम करने का एक राष्ट्रीय मंच उपलब्ध हुआ है। यह मानवाधिकारों के बाबत चर्चा को एक राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य मिला है, मज़बूरी में ही सही पर भौतिक और वैचारिक तंत्र में एक सकारात्मक परिवर्तन दिखाई पड़ने लगा है। आयोग की सक्रियता कचहरी, थानों और विभिन्न सरकारी दफ़्तरों में दिखाई पड़ने लगी है, किंतु राज्य स्तर पर अभी भी इस सरोकार को गंभीरता से नहीं लिया जा रहा है। उत्तर प्रदेश के मानव अधिकार आयोग के अध्यक्ष का कहना है कि वे अपने ख़र्चे पर ही शासकीय कार्यवाही करने को बाध्य हैं। उनका आयोग मात्र 15 अधिकारियों–कर्मचारियों से चल रहा है। राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग की वार्षिक रिपोर्ट में भी मानवाधिकारों के संबंध में सरकारी रवैया और आयोग के समक्ष कठिन चुनौतियों का हवाला रहता है, तो भी दिनों–दिन जिस तरह से भारतीय परिवेश समाज और शासकीय तंत्र का जनवादीकरण

हो रहा है, लोगों की अपने अधिकारों के प्रति चेतना बढ़ रही है। राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय दबावों के चलते मानवीय मूल्यों पर बहस होनी शुरू हुई है। यह माना जा सकता है कि भारतीय परिवेश आने वाले दिनों में मानव के प्रति अपने दृष्टिकोण में और अधिक बदलाव लाएगा तथा मानवीय मूल्यों तथा मानवीय अधिकारों के लिए संघर्ष करने वाली शक्तियों के प्रति आस्था में सतत् वृद्धि होगी। जनवादी संस्थाएँ और जन आंदोलन अपनी ज़मीन स्वयं तैयार करते हैं। अभी हाल ही में सर्वोच्च न्यायालय द्वारा बेस्ट बेकरी कांड की सुनवाई के दौरान गुजरात सरकार पर की गई टिप्पणी इसका सबूत है।

मानवाधिकार संरक्षण एवं भारतीय पुलिस

सत्यनारायण सावत

सुव्यवस्थित एवं संगठित समाज के लिए यह आवश्यक है कि एक ऐसी व्यवस्था हो जो नागरिकों के आचरण एवं कार्यप्रणाली पर नियमित रूप से नज़र रख सके। प्रारम्भ में जनता स्वयं इस कार्य को करती थी, किंतु विकास के साथ–साथ कार्य की अधिकता हुई एवं यह कार्य करने के लिए पुलिस संगठन अस्तित्व में आया।

पुलिस की वर्तमान व्यवस्था व उसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

भारतीय पुलिस व्यवस्था आज भी 1861 पुलिस अधिनियम पर आधारित है। इस प्रकार की पुलिस व्यवस्था को ब्रिटिश लोगों ने भारतीय उप–महाद्वीप में प्रचलित किया था। यह पुलिस प्रणाली मुख्यतः उपनिवेशवादी पुलिस है, जिसकी नींव एक विदेशी ताकत द्वारा देश में अपने शासन को बनाए रखने के लिए की गई थी। ब्रिटिश शासन काल में ही भारतीय पुलिस में सुधार के लिए सन 1902 में लॉर्ड कर्ज़न द्वारा पुलिस आयोग का गठन किया गया था, जिसने यह टिप्पणी दी थी कि भारतीय पुलिस कुशलता से बहुत दूर है, इसका प्रशिक्षण व संगठन दोषपूर्ण है, देख–रेख में कमी है, आमतौर पर इसे भ्रष्ट व दमनकारी माना गया है, यह लोगों का विश्वास जीतने में पूरी तरह असफल है।

उल्लेखनीय है कि ब्रिटिश साम्राज्यवादी शासन के परिचालन हेतु सशक्त अधिकार शक्ति–संपन्न दमनात्मक पुलिस की अनिवार्य आवश्यकता थी। उपनिवेशवादी प्रशासन तंत्र की समाप्ति के पश्चात् सर्वोत्तम शासन सत्ता जनता के हाथों में हस्तांतरित होने के पश्चात् अब जनसेवक पुलिस की आवश्यकता है; किंतु अपने अतीत व परंपरा से चिपके रहने की प्रवृत्ति हर संगठन व व्यक्ति में होने के कारण अब तक वांछित परिवर्तन विधायी एवं व्यवहार में नहीं आ सका है। अतः मूलभूत ढाँचे में बदलाव की तीव्र तात्कालिक आवश्यकता है।

उपरोक्त तथ्य से यह स्पष्ट होता है कि भारतीय पुलिस को ब्रिटिश शासक संदेह की दृष्टि से देखते थे। पुलिस पर अविश्वास के कारण ही संगठन को मजिस्ट्रेट के अधीन

रखा गया। अन्य कारण यह भी हैं कि ज़िला मजिस्ट्रेट द्वारा ही समस्त कार्य ब्रिटिश शासन के लिए किया जाता था, अतः समस्त विभागों को ज़िला मजिस्ट्रेट की नियंत्रण में रखा गया था।

अंग्रजों ने भारतीय पुलिस को दमनकारी भूमिका देते हुए जनता के मन में पुलिस के प्रति भय, शंका और अविश्वास की भावना भर दी। स्वतंत्रता आंदोलन को कुचलने के ब्रिटिश राज द्वारा भारतीय पुलिस से बल प्रयोग खुलकर कराया गया। पुलिस एवं लोगों के बीच दूरी बढ़ती रही तथा जनता एवं पुलिस के बीच अविश्वास व शत्रुता बढ़ने लगी, इस प्रकार भारतीय पुलिस का सृजन इस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में हुआ। इस तंत्र को ब्रिटिश शासन को भारत वर्ष में क़ायम रखने के लिए एक शस्त्र के रूप में प्रयोग किया गया। स्वतंत्रता के 56 वर्ष बाद आज भी वह छवि पूर्ण रूप से मिटाई नहीं जा सकी है। पुलिस से जनता का संबंध अन्य सेवाओं की तुलना में ज़्यादा होता है, अतः जनता की इच्छा एवं अपेक्षा के अनुरूप पुलिस में बदलाव न हो पाने के कारण पुलिस का विरोध होता है।

पुलिस के सामने धर्म–संकट

पुलिस को क़ानून के तहत तमाम शक्तियाँ मिली हैं, इसलिए पुलिस को क़ानून और व्यवस्था के अनुसार समाज में शांति बनाए रखने के लिए सतत् प्रयत्नशील होना चाहिए। लोकतंत्र प्रणाली में विधि–सम्मत शासन ही सर्वोपरि होता है। पुलिसजनों से विभाग एवं जनता द्वारा यह अपेक्षा की जाती है कि वे अपराध के रोकथाम हेतु विधि–सम्मत प्रक्रिया अपनाकर अपराध पर अंकुश लगाएँ तथा पहल करके उपलब्धि प्राप्त करें, जबकि विधि सम्मत शासन नागरिकों के अधिकार पर बल देता है तथा पुलिस की कार्यवाही पर अंकुश लगाता है। पुलिस अधिकारी के सामने जहां एक तरफ़ विभाग तथा जनता की अपेक्षा रहती है कि वह अपराधियों के ख़िलाफ़ कठोर कार्रवाई कर अपराध की रोकथाम करें तथा अपराध में संलिप्त व्यक्तियों को कड़ी–से–कड़ी सज़ा दिलाए, दूसरी तरफ़ उसके सामने विधि–सम्मत प्रक्रिया अपनाने का प्रश्न है; इस स्थिति में कुछ पुलिस अधिकारियों द्वारा विधि–सम्मत शासन का उल्लंघन करने की तथा जल्दी सफलता प्राप्त करने के लिए क़ानूनी प्रक्रिया के उल्लंघन करने की भावना ज़ागृत होती है, जिससे वह कभी–कभी क़ानून से हट कर कार्य करने की पहल करते हैं। इस प्रकार उनके द्वारा जाने–अनजाने में मानवाधिकार का उल्लंघन होता है।

भारतीय पुलिस की दुर्बलता

भारतीय पुलिस की दुर्बलता आज भी यह है कि उसे न सिर्फ़ संविधान द्वारा प्रदत्त जनता के मूलभूत अधिकारों एवं क़ानून की रक्षा करनी पड़ती है, बल्कि शासकीय दल की नीति की भी रक्षा करनी पड़ती है। कभी–कभी शासकीय दल की नीति एवं जनता के एक बड़े गुट के सोच में विरोधाभास रहता है, जिसके फलस्वरूप विभिन्न प्रकार के धरना एवं प्रदर्शन आदि होते हैं तथा क़ानून व्यवस्था–संबंधी समस्या भी उत्पन्न होती है।

पुलिस द्वारा उत्पीड़न

पुलिस को दी गई क़ानूनी शक्तियाँ भी सीमित हैं। न्यायालय में पुलिस द्वारा अभियोग भेजने के उपरांत पुलिस द्वारा अभियोग की मात्र पैरवी ही की जा सकती है, गवाह प्रस्तुत किए जाते है, किन्तु अंतिम फैसला न्यायालय द्वारा ही लिया जाता है। यदि किसी व्यक्ति को न्यायालय द्वारा जमानत पर छोड़ दिया जाता है, अथवा अपराध तो सामान्यतः इस संबंध में जनता पुलिस पर आरोप लगाती है। इन दबाव के कारण पुलिस अपने रास्ते से हट कर उत्पीड़न का मार्ग कभी–कभी अपनाने लगती है। अपराध के घटित होने का अधिकांश कारण पुलिस के नियंत्रण के बाहर होते हुए भी जनता द्वारा पुलिस से अपेक्षा की जाती है कि वह सभी प्रकार के अपराधों को रोके एवं संदिग्ध व्यक्तियों के साथ भी कड़ाई से पेश आए।

लोकतांत्रिक प्रणाली में पुलिस सेवा एक विशिष्ट प्रकार की समाज सेवा है, प्रत्येक पुलिस कर्मी एक वर्दीधारी समाज सेवक है। अपने कार्य में सफलता प्राप्त करने हेतु उसे जनसहयोग की आवश्यकता है। पुलिस को जनता का स्नेह, सदाशयता आदि प्राप्त करनी चाहिए।

भारतीय पुलिस के ऊपर मानवाधिकार हनन के आरोप लगने के कारण :–

वर्तमान परिवेश में आए दिन किसी–न–किसी प्रकार का आंदोलन जलूस, चक्काजाम, दंगा आदि होता है। इस समस्या का समाधान पुलिस को क़ानून के अधीन रहते हुए करना पड़ता है, जो कि एक दुरूह कार्य है। चूँकि पुलिस को इस समस्या का समाधान करना है, अतः पुलिस द्वारा की जाने वाली कार्रवाई में क़ानून की मर्यादाओं का उल्लंघन हो ही जाता है, जिस पर उन्हीं आंदोलनकारियों द्वारा पुलिस के ऊपर अपने अधिकारों के हनन का आरोप लगाया जाता है। इसमें समाज के सभी वर्ग के लोग पुलिस के विरोध में हो जाते हैं।

पुलिस का कार्य, व्यवस्था एवं सुरक्षा क़ायम रखना है, किंतु आधुनिक परिवेश में पुलिस का शांति व्यवस्था व सुरक्षा के साथ–साथ विभिन्न प्रकार की ड्यूटियों को संपादित करना पड़ता है।

पुलिस को अपना कार्य करने में राजनीतिक व्यक्तियों एवं माफ़ियाओं व अन्य प्रकार के संगठनों के दबाव में कार्य करना पड़ता है। फलस्वरूप पुलिस सच्चाई को सामने लाने में असहाय हो जाती है। उदाहरण स्वरूप : किसी राजनीतिक व्यक्ति द्वारा अपने उद्देश्य की प्राप्ति हेतु विधि–विरूद्ध कार्य किए जाने की स्थिति में पुलिस द्वारा विधिक कार्रवाई किए जाने पर उन्हीं राजनीतिज्ञों द्वारा पुलिस के ऊपर अधिकारों का हनन का आरोप लगा दिया जाता है। यदि पुलिस अपनी कार्रवाई नहीं करती है तो जनता उसके प्रति अपने तेवर उग्र कर पुलिस को आलोचनाओं के घेरे में ले लेती है, ऐसी परिस्थिति में पुलिस असहाय हो जाती है।

समाज का हर वर्ग किसी घटना के घटित होने पर तत्काल प्रभावी एवं दोषारोपित व्यक्ति के विरूद्ध दंडात्मक कार्रवाई की अपेक्षा करता है, किंतु क़ानूनी प्रक्रिया की लचरता के कारण पुलिस जनता के समक्ष खरी नहीं उतर पाती है। फलस्वरूप पुलिस के विरूद्ध तमाम आरोप लगने लगते हैं। वहीं जब पुलिस सक्रियता दिखाते हुए अपराधी को पकड़ने में जनता से सहयोग की अपेक्षा करती है तो जनता का कोई व्यक्ति पुलिस को अपेक्षित सहयोग देने से अपने को दूर रखने का प्रयत्न करता है, क्योंकि न्यायालय प्रक्रिया पूर्ण होने में लगने वाले समय को देखते हुए हर व्यक्ति अपने आप को बचाना चाहता है। न्यायालय प्रक्रिया में यदि किसी अपराधी को गिरफ़्तार किया जाता है तो 24 घंटे के अंदर उसे मजिस्ट्रेट के सामने उपस्थित करना अनिवार्य होता है, परिणाम यह होता है कि पुलिस घटना के संबंध में कोई जानकारी किए बिना ही उसे न्यायालय में प्रस्तुत करती है, जहाँ से वह पुलिस अभिरक्षा से बाहर हो जाता है और पुलिस चाह कर भी प्रकरण का खुलासा नहीं कर पाती, जिसके कारण पुलिस पर आरोप लगने लगते हैं।

पुलिस द्वारा मानवाधिकार हनन किए जाने की तथ्यों की जानकारी किए बग़ैर मीडिया द्वारा किए जाने वाला प्रचार भी पुलिस के प्रति जनता के अंदर हीन भावना भरता है, चूँकि भारत की लगभग आधी जनता पढ़ी–लिखी नहीं है, जिसके कारण लोग एक दूसरे की कही बातों का भरोसा कर पुलिस को अपना कोपभाजन बनाते हैं। यदि मीडिया द्वारा घटना की वास्तविकता को जनता के सामने प्रचारित किया जाए तो जनता के मन में पुलिस के प्रति घृणा नहीं होगी। उदाहरणतः यदि मीडिया द्वारा यह प्रचारित किया जाए कि पुलिस मौके पर विलंब से पहुँची किंतु घटना स्थल पर पुलिस को सहयोग देने वाला कोई नहीं मिला, जिसके कारण पुलिस अपने कार्य को अंजाम देने में सफल नहीं हो सकी।

पुलिस अधिकारियों के ऊपर इस बात का दबाव विभिन्न स्तरों से बनाया जाता है कि अमुक घटना का पर्दाफ़ाश तत्काल या अल्पसमय में किया जाए। जब कि पुलिस अधिकारी, क़ानूनी निर्देश के तहत कार्रवाई करने के लिए बाध्य होता है। फलस्वरूप वह घटना से संबंधित तथ्य को सामने लाने के लिए क़ानून की परिधि से हट कर कार्य करता है। ऐसी स्थिति में की गयी छोटी–सी विधि–विरूद्ध कार्रवाई पुलिस के ऊपर आरोपों की झड़ी लगा देती है और पुलिस असहाय नज़र आती है।

जनता के बीच पुलिस की दमनकारी नीति निरंकुशता की चर्चा प्रायः रहती है, यद्यपि इसमें काफ़ी मनगढ़ंत बातें होती हैं, तथापि कभी–कभी पुलिस द्वारा की जाने वाली निरोधात्मक कार्रवाई इतनी निरंकुश होती है कि निरंकुशता स्पष्ट रूपसे झलकती है, जिसका जनता द्वारा कड़ा विरोध किया जाता है। कई अवसरों पर पुलिस अपने को जनता की नज़रों में सम्मान आदि पाने के लिए क़ानूनी परिधि से बाहर आकर कार्रवाई करती है। जनता क़ानून का उल्लंघन देखकर पुलिस के विरूद्ध गंभीर आरोप लगाती है, परिणामस्वरुप पुलिस के ऊपर मानव अधिकारों का खुले उल्लंघन का दोष सिद्ध होता है, जिसके कारण पुलिस अपनी प्रतिष्ठा खो देती है। पुलिस द्वारा किए गए अनेक अच्छे कार्यों पर उसके द्वारा किया गया एक ही विधि–विरुद्ध कार्य भारी पड़ जाता है।

मानवाधिकार हनन के आरोप से बचने के उपाय

अपराध पीड़ित व्यक्ति जब पुलिस के सामने पहुँचता है तो वह शारीरिक, मानसिक एवं आर्थिक रूप से आहत होता है। वह विशेष सहानुभूति एवं संवेदना की अपेक्षा करता है; यदि उसे पुलिस से सही समय पर सहयोग व सम्मान नही प्राप्त होता है तो उसके मन में पुलिस के प्रति क्षोभ एवं विपरीत धारणा बनना स्वाभाविक है। पुलिस के असहयोग के कारण पुलिस का कार्य और भी कठिन हो जाता है।

पुलिस को इस प्रकार की परिस्थिति से निपटने के लिए मानसिक रूप से तैयारी करना तथा यथासंभव संसाधन युक्त होना आवश्यक है। पीड़ित व्यक्ति को सांत्वना देना तथा जहाँ पर आवश्यक हो, वहाँ तत्काल चिकित्सीय सुविधा उपलब्ध कराना पुलिस का कर्तव्य है, उसके साथ–साथ उचित वैधानिक कार्रवाई शीघ्रता से करने की अपेक्षा पुलिस से की जाती है।

पुलिस को अधिक संवेदनशील बनाने के लिए जहाँ पुलिसजनों के प्रशिक्षण की आवश्यकता है, साथ ही साथ थाने के स्तर पर पीड़ित व्यक्ति की परिचर्या के लिए पर्याप्त जनशक्ति तथा वाहन एवं चिकित्सीय व्यवस्था उपलब्ध कराना होगा। चिकित्सीय सुविधा उपलब्ध कराने के लिए ग़ैर सरकारी संस्थाओं की मदद लेने के संबंध में विचार किया जा सकता है।

न्याय प्रणाली में सुधार एवं संशोधन की आवश्यकता प्रतीत हो रही है; जैसे–न्यायालय के आदेश के अनुसार किसी भी व्यक्ति को जब तक दोष सिद्ध नहीं किया जाता, न्यायालय में लाने व ले जाते समय उसे हथकड़ी नहीं लगाए जाने का निर्देश है, जब कि पर्याप्त संख्या में पुलिस बल न होने के कारण गिरफ़्तार आरोपियों को लाने व ले जाने में अपेक्षा से कम बल नियुक्त होता है; हथकड़ी न लगाने पर गिरफ़्तार व्यक्ति भागने का प्रयास करता है और कभी–कभी इस कार्य में सफलता भी मिल जाती है। इससे जनता द्वारा पुलिस को कोसा जाता है, दूसरी तरफ़ यदि गिरफ़्तार व्यक्ति को हथकड़ी लगाई जाती है तो न्यायालय के साथ जनता द्वारा अपने अधिकार हनन की बात उठाई जाती है। ऐसी स्थिति में पुलिस दुविधा में एवं असहाय नज़र आती है। संप्रति पर्याप्त पुलिस बल का होना नितांत आवश्यक है।

मीडिया द्वारा जनता के बीच पुलिस की सकारात्मक कार्रवाई का भरपूर प्रचार कर जनता के बीच पुलिस के प्रति सहयोग की भावना को जागृत करने का प्रयत्न किया जाना चाहिए। इससे जहाँ पुलिस अपने कार्य को मनोयोग एवं उत्साहित होकर करेगी, वहीं अपराधियों का मनोबल गिरेगा, जिससे भय–मुक्त समाज की स्थापना में पुलिस अपना खोया अस्तित्व पाने में सफल हो सकेगी। प्रायः मीडिया द्वारा अपने समाचार पत्रों के माध्यम से तर्कहीन प्रकरण को रोमांचक तरीके से जनता के समक्ष प्रस्तुत किया जाता है, जिससे जनता दिग्भ्रमित होकर पुलिस के विरोध में सामने आ जाती है, फिर पुलिस के ऊपर अधिकारों के हनन का झूठा आरोप लगने लगता है।

पुलिस द्वारा की जाने वाली कार्रवाई में प्रायः समय का अभाव–सा रहता है, जिसके

कारण पुलिस अपने कार्य को सकारात्मक ढंग से नहीं कर पाती है। पुलिस को अपनी विधिक कार्रवाई करने हेतु पर्याप्त समय दिया जाना चाहिए, इसके लिए विधिक प्रक्रिया में भी संशोधन की आवश्यकता है।

जनसंख्या की अपेक्षा पुलिस बल कम संख्या में है, पुलिस को एक साथ कई ड्यूटियों को संपादित करना पड़ता है, ऐसी परिस्थिति में पुलिस चाह कर भी अपने कर्तव्यों को सही प्रकार से उचित समय में नहीं कर पाती है, जिस पर जनता द्वारा विरोधात्मक रुख अपनाया जाता है और अपने अधिकारों के ह्रास की बात कही जाती है।

प्रायः राजनीतिक आंदोलनकारियों के दबाव का सामना पुलिस नहीं कर पाती है। परिणाम यह होता है कि पुलिस अपने विवेक व तरीके से विरोधियों को हटाने का प्रयास करती है।

पुलिस द्वारा मानवाधिकार के हनन का जहाँ तक प्रश्न है, यह उल्लेखनीय है कि पूरा पुलिस तंत्र पुलिस अधिनियम के तहत कार्य करता है। इस अधिनियम में पुलिस द्वारा किसी की पिटाई करना, उसके प्रति हिंसा करना अपराध माना गया है। किसी भी प्रकरण में दोषी पाये जाने पर प्रशासनिक एवं न्यायिक दोनों प्रकार की दंडात्मक प्रक्रियाएँ की गयी हैं। इस तरह पुलिस के ऊपर एकतरफ़ा मानव अधिकारों के हनन की बात अपने आप में तर्क संगत नहीं हो सकती है। पुलिस द्वारा एन.एस.ए., पोटा एवं अन्य अधिनियमों का दुरूपयोग न हो पाये, इसके प्रति पुलिस विभाग को सजग रहना चाहिए।

पुलिस प्रणाली में क्या परिवर्तन होने चाहिए

वर्तमान पुलिस ढाँचे में लोकतंत्र की अपेक्षानुसार परिवर्तन किया जाना चाहिए। पुलिस के ऊपर राजनीतिज्ञों के प्रभाव को कदापि नहीं होने देना चाहिए, तभी पुलिस विधिक रूप से कार्रवाई करती हुए समस्या का समाधान करने में सफल हो सकेगी।

समाज को भी अपने अंदर पुलिस के प्रति संवेदनशील एवं जागरूक होकर अपेक्षित सहयोग देकर पुलिस द्वारा की जा रही विधिक कार्रवाई में सहभागिता निभानी होगी। तभी पुलिस अपने कार्यों को जनता की भावनाओं के प्रति सकारात्मक अंजाम दे सकेगी।

यूरोप के कुछ देशों में पुलिस द्वारा किसी व्यक्ति की गिरफ़्तारी के उपरांत एक अन्वेषक/विवेचक न्यायाधीश (Investigating Judge) को पुलिस थाने पर शीघ्र बुला कर उनके सामने पुलिस अभिरक्षा में लिए गए व्यक्ति को पेश किया जाता है। पुलिस द्वारा बाद में न्यायालय में गिरफ़्तार व्यक्ति को नियम अनुसार पेश करने के समय विवेचक न्यायाधीश की रिपोर्ट भी पेश की जाती है। पुलिस रिपोर्ट एवं विवेचक न्यायाधीश की रिपोर्ट की एकरूपता होने पर न्यायालय को पुलिस कथन पर विश्वास करने में कोई समस्या नहीं होती है एवं पुलिस के ख़िलाफ़ कोई मनगढंत शिकायत करने का अवसर नहीं मिलता है।

वर्तमान समय में देश में प्रचलित क़ानून में भी मानवाधिकार रक्षा करने हेतु अनेक प्रावधान बनाए गए हैं, किंतु वस्तुस्थिति यह है कि उनका सही अनुपालन नहीं हो पा रहा है। विभागीय स्तर में मानवाधिकार की दृष्टिकोण से उपरोक्त प्रावधानों के अनुपालन के

संबंध में समय–समय पर निरीक्षण किया जाना चाहिए एवं मानवाधिकार निर्देशों के अनुपालन का चरित्र–पंजिका में वार्षिक मंतव्य में स्पष्ट किया जाना चाहिए।

आज की पुलिस अत्याधिक तनाव–ग्रस्त है, इसका मुख्य कारण कार्य की अधिकता, सेवा शर्तों में अतिरिक्त कुशल कार्य, अपराध नियंत्रण से हटकर कई अन्य कर्त्तव्यों, जैसे–अतिक्रमण हटाना, परीक्षा कराना, सिंचाई नहर खुलवाना आदि तमाम कर्त्तव्यों में समय व्यतीत करती है, जो वास्तविक रूप में अन्य विभागों से संबंधित है। पुलिस में भी वी.आई.पी. सुरक्षा आदि विशेष पुलिस बल द्वारा किया जाना चाहिए।

वर्तमान समय में पुलिस के कार्य में राजनैतिक हस्तक्षेप प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में होने के दृष्टांत आते रहते हैं। विभिन्न स्तर के पुलिस अधिकारियों पर राजनैतिक व्यक्तियों द्वारा समय–समय पर दबाव डाला जाता है एवं दबाव में न आने पर उनको उसका ख़ामियाजा भुगतना पड़ता है। इस प्रकार पुलिस अधिकारीगण का असामयिक स्थानांतरण/अनावश्यक निलंबन आदि विभिन्न प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। मानवाधिकार के संरक्षण के लिए यह आवश्यक है कि पुलिस अधिकारियों को दबाव रहित बनाया जाये। यह तभी संभव है जब पुलिस विभाग के आंतरिक कार्य में किसी भी प्रकार का राजनैतिक हस्तक्षेप न हो एवं विभाग के स्थानातंरण आदि की प्रक्रिया सामान्यतः समयानुसार हो। जहाँ एक तरफ़ मानवाधिकार के संरक्षण करने की अहम् ज़िम्मेदारी पुलिस विभाग पर है वहीं पुलिसजनों के हितों की रक्षा एवं सही कार्य करने पर उनको किसी भी प्रकार की प्रताड़ना का सामना न करना पड़े, यह सुनिश्चित करने के लिए शासन एवं मानव अधिकार आयोग द्वारा उचित कदम उठाने चाहिए, इससे न सिर्फ पुलिस अधिकारीगण को निश्चिंत होकर अपने कार्य को विधिक ढंग से करने के लिए प्रोत्साहन मिलेगा, बल्कि उनकी कार्य कुशलता में भी गुणात्मक परिवर्तन होगा एवं मानवाधिकार संरक्षण की दिशा में पुलिस की भूमिका अधिक सकारात्मक होगी।

————

आयोग के कुछ महत्वपूर्ण निर्णय

इलाहाबाद ज़िले में चटाई कारख़ाने से 13 बंधुआ बाल मज़दूरों की रिहाई: उत्तर प्रदेश (मामला सं0 20183/24/99–2000)

श्री आर0 एस0 चौरसिया, महामंत्री दक्षिण एशियाई बाल अधिजीविता सम्मेलन नई दिल्ली ने आयोग को भेजी अपनी शिकायत में कहा कि 17 दिसम्बर 1999 को हरीचरणपुर गांव, थाना और तहसील–हन्दिया, इलाहाबाद, उत्तर प्रदेश के श्री राधेश्याम भारती के चटाई कारख़ाने से 13 बंधुआ बाल मज़दूरों को रिहा कराया गया। उन्होंने आरोप लगाया कि बच्चों को उनके माता–पिता को सौंपने की बजाय उन्हें सुधार गृह में रखा गया। उन्होंने कहा कि बच्चे माता–पिता को सौंप दिए जाएं तथा श्रम विभाग, बाल श्रम, न्यूनतम मज़दूरी आदि के अन्तर्गत नियोक्ता के विरूद्ध कार्यवाही करें।

आयोग ने तथ्यों को एकत्रित करने के लिए महानिदेशक (अन्वेषण) को निदेश दिया। ज़िला मजिस्ट्रेट से प्राप्त रिपोर्ट में कहा गया कि 13 बाल मज़दूरों, जो बंधुआ थे, को 17 दिसम्बर 1999 को रिहा कराया गया और उन्हें बाल सुधार गृह, खुल्डाबाद भेजा गया क्योंकि उनके माता–पिता/अभिभावक उपलब्ध नहीं थे। 23 जनवरी 2002 को निरीक्षक थाना, हन्दया को निदेश दिया गया कि बच्चों के पते सत्यापित करें और उनके माता–पिता को सौंप दें। बच्चों को उनके अभिभावकों को सौंप दिया गया है जबकि चार को अभी रिहा कराया जाना है। 27 मार्च 2000 को शिकायत पर विचार करने के बाद, आयोग ने बच्चों के ब्यौरों को रिकार्ड करने हेतु अधिकारियों की एक टीम तैनात करने और उनके बाद रिहाई प्रमाण पत्र तथा छुड़ाए गए बाल–मज़दूरों को मुआवज़ा देने का निदेश दिया।

2 मई 2000 को आयोग ने अपने महानिदेशक (अन्वेषण) से अधिकारियों की एक टीम, सभी संबंधित व्यक्तियों के वक्तव्य रिकार्ड करने के लिए तैनात करने का निदेश दिया। टीम ने निम्नलिखित बातें बताते हुए अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की :

- 13 बंधुआ मज़दूर जिन्हें रिहा कराया गया था, करघा मालिकों के पास वापस चले गए और 10 दिन तक काम किया।
- यह पता लगाया गया कि प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र के प्रभारी डॉक्टर ने अभियुक्त की मदद करने के लिए बच्चों की आयु के बारे में जाली चिकित्सा प्रमाण पत्र दिया। टीम ने सुझाव दिया कि चिकित्सा प्राधिकारियों को कहा जाए कि जांच करने के बाद सम्बन्धित डॉक्टर के विरूद्ध उपयुक्त कार्रवाई की जाए।
- मौजूदा मामले में कोई बड़ी लापरवाही सामने नहीं आई फिर भी ज़िला प्राधिकारियों द्वारा कुछ न कुछ लापरवाही ज़रूर दर्शायी गई थी।

आयोग की अन्वेषण टीम की रिपोर्ट पर विचार करने के बाद, आयोग ने निम्न निदेश दिए :

- ज़िला मजिस्ट्रेट, इलाहाबाद रिहा कराए गए प्रत्येक बाल मज़दूर को 20,000 रू0 की दर से मुआवज़ा अदा करें और उच्चतम न्यायालय के निर्णय के अनुसरण में 20,000 रू0 की राशि प्रति बाल मज़दूर उसके नियोक्ता से वसूल करें। 1000 रू0 की राशि नकद दी जाए तथा शेष राशि गांव के निकटतम राष्ट्रीयकृत बैंक में फिक्सड डिपोजिट में डाली जाए। इस पर अर्जित ब्याज प्रति बच्चा प्रति माह उनकी शिक्षा के लिए दिया जाए और की गई कार्रवाई की रिपोर्ट प्रस्तुत करें। करघा में कार्यरत बच्चों का ग़लत आयु प्रमाण पत्र जारी करने के लिए प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र के प्रभारी डॉक्टर के विरूद्ध कार्रवाई की जाए।

- उत्तर प्रदेश सरकार का श्रम विभाग बंधुआ मज़दूरी (उन्मूलन) अधिनियम 1976 और मज़दूरी का भुगतान अधिनियम के उपबन्धों के अन्तर्गत अभियुक्त राधे श्याम भारती के विरूद्ध कार्रवाई करे।

- इलाहाबाद, मिर्जापुर और भदोही ज़िलों के और आस–पास के क्षेत्रों में जहां बंधुआ बाल मज़दूरी की प्रथा विद्यमान है, आकस्मिक जांच की जाए और दोषी करघा मालिकों के विरूद्ध कार्रवाई की जाए।

पश्चिमी गोदावरी ज़िला में अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति की चार महिलाओं के साथ बलात्कार : आंध्र प्रदेश

(मामला सं0 343/1/98–99)

इस मामले में कार्रवाई डॉ0 पी0 पूला राव से शिकायत मिलने पर की गई। यह शिकायत आन्ध्र प्रदेश के पश्चिमी गोदावरी ज़िले में अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति की युवतियों के साथ बलात्कार की चार घटनाओं से जुड़ी थी।

आरम्भ में आयोग ने आन्ध्र प्रदेश के पुलिस महानिदेशक से शिकायत पर समुचित कार्रवाई करने का निदेश दिया और प्रत्येक मामले में पीड़ित महिला को शीघ्रतापूर्वक राहत प्रदान करने के लिए कहा गया। पुलिस महानिदेशक ने जवाब में, चारों घटनाओं में बलात्कार की पुष्टि की। उन्होंने संकेत दिया कि प्रत्येक मामले में मामले का पंजीकरण, अपराध की जांच–पड़ताल और गिरफ़्तारी तथा अपराधों के लिए ज़िम्मेवार लोगों पर मुक़दमा चलाने जैसी कार्रवाई की गई है। तथापि राज्य सरकार ने आयोग के समक्ष दलील दी कि चूंकि पीड़ित महिलाएं और अपराध से जुड़े लोग दोनों ही अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति से थे इसलिए वे महिलाएं विद्यमान योजना के अधीन मुआवज़े की पात्र नहीं है।

आयोग ने यह दलील ख़ारिज़ कर दी और आंध्र प्रदेश सरकार से निम्न कार्रवाई करने का आदेश दिया :

- विद्यमान योजनाओं की समीक्षा की जाए ताकि अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति की बलात्कार की शिकार महिलाओं को आर्थिक सहायता/अनुदान सहायता और ऐसी देय राहत प्राप्त हो सके चाहे अपराधी/बलात्कार करने वाला उसी जाति/समुदाय से जुड़ा हो और इस योजना में पीड़ितों के पुर्नवास की व्यवस्था भी होनी चाहिए।

- यह भी सुनिश्चित किया जाए कि इन चारों मामलों में बलात्कार जैसा घिनौना अपराध करने वाले व्यक्ति पर क़ानून के अनुसार मुक़दमा चलाया जाए और उसे सजा हो।

- प्रत्येक पीड़ित को 50,000 रू0 की राशि आर्थिक मुआवज़े के रूप में दी जाए।

जवान ने मानसिक रूप से विक्षिप्त लडकी के साथ सबके सामने बलात्कार किया : असम

आयोग ने 20 अप्रैल 1999 के 'स्टेट्समैन' में 'जवान ने मानसिक रूप से विक्षिप्त लड़की के साथ सबके सामने बलात्कार किया' शीर्षक के तहत छपी ख़बर को स्वतः संज्ञान में लिया और निर्देश दिया कि इस मामले में रक्षा मंत्रालय के सचिव से रिपोर्ट मांगी जाए।

रक्षा मंत्रालय से प्राप्त रिपोर्ट में इसकी पुष्टि की गई कि किसी अजीत सिंह ने मानसिक रूप से विक्षप्ति 15 वर्षीय लड़की 'कखग' (पहचान छिपाने के लिए नाम नहीं लिखा) के साथ बलात्कार किया और इस मामले की एफआईआर किसी नागरिक ने दर्ज़ कराई। लड़की की डॉक्टरी जांच की गई और चिकित्सा अधिकारी ने अपराध की पुष्टि की। अजीत सिंह को गिरफ्तार कर सैनिक हिरासत में रखा गया। अजीत सिंह का समरी कोर्ट मार्शल किया गया और उसे 8 वर्ष के कठोर कारावास सहित नौकरी से डिसमिस कर दिया गया।

अभियुक्त के खिलाफ़ सेना के प्रधिकारियों द्वारा की गई कार्रवाई पर विचार करते समय आयोग का मत था कि पीड़ित 'कखग', मानसिक रूप से विक्षिप्त लड़की है इसलिए उसे मुआवज़ा देना भी ज़रूरी था। तदनुसार आयोग ने कोकराझार के ज़िला मजिस्ट्रेट को निर्देश दिया कि पीड़ित 'कखग' के माता–पिता को तत्काल अंतरिम सहायता के रूप में 47,000/– रू0 का भुगतान किया जाए। मुआवज़े के भुगतान के संबंध में आयोग को अनुपालन रिपोर्ट प्राप्त हो गयी है।

बारामूला ज़िले में नक़ाबपोश बंदूकधारियों द्वारा 18 लोगों की तथाकथित हत्या : जम्मू और कश्मीर

जमाते–ई–इस्लामी पार्टी, श्रीनगर, जम्मू और कश्मीर के पदाधिकारी श्री गुलाम मोहम्मद भट्ट ने नक़ाबपोश बंदूक धारियों द्वारा, जिन्हें आमतौर पर 'इखवानी' कहा जाता है, बारामूला ज़िले में 18 लोगों की हत्या करने और 2 लोगों को गंभीर रूप से घायल करने की शिकायत की। दिनांक 28 सितम्बर 1998 की अपनी शिकायत में उन्होंने कहा कि आत्मसमर्पण कर चुके इन आतंकवादियों का इस्तेमाल राजनैतिक पार्टियां और अन्य सरकारी एजेंसियां अपने फ़ायदे के लिए कर रही हैं, उन्होंने यह भी कहा कि जमाते–ई–इस्लामी पार्टी, जे0एण्ड0के0 के नेता, कार्यकर्ता और उनके रिश्तेदार भी स्वयं को असुरक्षित महसूस कर रहे हैं और उनके जीवन, संपत्ति, सम्मान और गरिमा के अधिकार को ख़तरा है।

20 अक्तूबर, 1998 को आयोग ने जम्मू और कश्मीर के अपने अगले दौरे के समय इस मामले पर विचार करने का निर्णय किया। 30 अक्तूबर, 1998 को उसने जम्मू और कश्मीर के मुख्य सचिव और पुलिस महानिदेशक को नोटिस जारी किए और रिपोर्ट मांगी।

इसके जवाब में जम्मू और कश्मीर सरकार के गृह विभाग से एक अंतरिम रिपोर्ट दिनांक 18 मई 1999 को प्राप्त हुई जिसमें हत्याओं का ब्यौरा दिया गया था। 2 अगस्त 1999 को आयोग ने उसे शिकायतकर्त्ता के पास अपनी टिप्पणी देने हेतु प्रेषित करने का निर्देश दिया और राज्य सरकार से अपनी अंतिम रिपोर्ट भेजने को कहा। बाद में आयोग को अंतिम रिपोर्ट मिल गई। उस पर विचार करते समय आयोग 8 सितम्बर 1999 को यह जानकर अत्यंत दुःखी हुआ कि पुलिस के संरक्षण में काम कर रहे तथाकथित उग्रवाद विरोधियों द्वारा 18 निर्दोष लोगों की हत्या कर दी गई। रिपोर्ट के अनुसार हत्यारों का अभी तक पता नहीं चला। सबूतों के अभाव में यह कहना संभव नहीं है कि ये हत्याएं उन लोगों की कार्रवाई का परिणाम है जो सरकारी प्राधिकारियों के संरक्षण में उग्रवाद विरोधी कार्रवाईयों में शामिल हैं। आयोग ने इस तथ्य पर ध्यान दिया कि हत्याओं के 18 मामलों में से किसी भी मामले में क़ातिलों का पता नहीं चला।

अतः आयोग ने जम्मू और कश्मीर के पुलिस महानिदेशक से इस मामले पर आगे चर्चा करने के लिए आयोग के सम्मुख पेश होने का अनुरोध किया। जम्मू और कश्मीर के पुलिस महानिदेशक 6 दिसम्बर 1999 को आयोग के सामने उपस्थिति हुए। आयोग उनके जवाब से संतुष्ट नहीं हुआ, परन्तु इस मामले में आयोग की उचित ढंग से मदद करने के लिए उन्हें और अधिक समय देने का उनका अनुरोध स्वीकार कर लिया गया ताकि वे संबद्ध काग़ज़ातों का अध्ययन कर सकें और सभी प्रकार की संगत सूचना प्राप्त कर लें। 22 दिसम्बर 1999 को यह दोबारा आयोग के सामने पेश हुए और इस मामले की अंतरिम रिपोर्ट भेजने का वायदा किया। 10 जनवरी 2000 को जम्मू रेन्ज के पुलिस महानिरीक्षक ने इन केसों की जांच की

अद्यतन प्रगति का पूर्ण विवरण भेजा।

आयोग के प्रयासों के अनुसरण में जम्मू और कश्मीर के पुलिस महानिदेशक ने सूचित किया कि 18 लोगों की हत्याओं के मामलों की जांच दोबारा की जा रही है और पुलिस महानिरीक्षक के रैंक का एक अधिकारी इस जांच की देख-रेख कर रहा है। वर्तमान समीक्षाधीन अवधि समाप्त होने के बाद मिली रिपोर्टों से यह स्पष्ट हुआ कि ये हत्याएं जमाते-ई-इस्लामी के कार्यकर्त्ताओं और हिजबुल मुजाहिदीन कैडर के बीच आंतरिक गुटबाजी के कारण हुई थीं।

पंजाब पुलिस द्वारा लावारिस लाशों का सामूहिक दाह संस्कारः उच्चतम न्यायालय द्वारा सुपुर्द केस

विभिन्न पार्टियों द्वारा विस्तारपूर्वक उठायी आपत्तियों और मुद्दों, विशेषकर क़ानूनी प्रावधानों, तथ्यों एवं परिस्थितियों पर विचार करके अपने अधिकार क्षेत्र में समय सीमा के बंधन पर उठायी आपत्ति के मामले में राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग ने यह बताकर अपनी स्थिति स्पष्ट की कि आयोग एक न्यायिक निकाय के रूप में उच्चतम न्यायालय द्वारा सौंपे गए दायित्वों को पूरा कर रहा है। अधिनियम के अंतर्गत उल्लिखित सीमाएं और बंधन इस निकाय पर लागू नहीं होते यह अधिनियम के प्रावधानों के तहत नहीं बल्कि उच्चतम न्यायालय द्वारा दी गई छूट के अंतर्गत कार्य करता है। आयोग ने कहा कि इस आदेश के अनुपालन में आयोग की शक्तियां धारा 36(2) या किसी अधिनियम के अन्य प्रावधानों द्वारा सीमित नहीं हो जाती।

उच्चतम न्यायालय द्वारा तथाकथित प्राधिकार सौंपने की वैधता के बारे में उठायी गई आपत्तियों को भी आयोग ने यह कह कर अस्वीकार कर दिया कि न्यायालय ने अपने आदेश में यह बात स्पष्ट कर दी थी कि उसने "आयोग में कोई अलग से न्यायिक संस्था नहीं बनायी है" बल्कि आयोग न्यायालय की एक एजेन्सी या संस्था के रूप में कार्य करेगा।

आयोग ने आगे कहा कि उसे अपनी लॉजिस्टिकल क्षमता को अत्याधिक बढ़ाने की आवश्यकता होगी, न्यायिक क्षेत्र के अनुभवी अधिकारियों को अपने यहां नियुक्त करना होगा ताकि वे साक्ष्य को रिकार्ड कर उस पर कार्रवाई करें, आयोग के निर्देशों के अनुसार जांच करें और उचित मुआवज़े की सिफ़ारिश करें बशर्ते कि आयोग उसे अपनी मंजूरी दे दे।

आयोग से उपर्युक्त आदेश की प्राप्ति पर गृह मंत्रालय ने एक याचिका दायर की जिसमें भारत सरकार की आपत्तियों को निपटाने और इस केस मे जांच करने के तरीकों का निर्धारण करने के संबंध में दिए आयोग के आदेशों के परिप्रेक्ष्य में उच्चतम न्यायालय के आदेश दिनांक 12 दिसम्बर 1996 का स्पष्टीकरण मांगा था। 10 सितम्बर 1998 को उच्चतम न्यायालय ने उक्त याचिका को आयोग के इस पक्ष को उचित ठहराते हुए निपटा दिया कि आयोग एक न्यायिक निकाय है जिसकी स्थापना संसद के अधिनियम के अंतर्गत हुई है। उच्चतम न्यायालय ने गृह मंत्रालय द्वारा आयोग के सामने उठायी विभिन्न आपत्तियों की आलोचना की और बाद में स्पष्टीकरण मांगने के लिए न्यायालय में आए पीड़ित परिवारों को सहायता मिलने में विलंब हुआ।

इसके पश्चात् आयोग ने जांच का कार्य क्षेत्र निर्धारित करने के लिए कार्रवाई शुरू की। उच्चतम न्यायालय के आदेश दिनांक 12 दिसम्बर 1996 की छूट के तहत यह ज़िम्मेदारी निभाना ज़रूरी था। शिकायतकर्त्ताओं की ओर से यह पक्ष रखा गया कि आयोग पंजाब पुलिस के ख़िलाफ़ वर्ष 1984–1994 के दौरान आरोपित उन सभी मामलों की जांच करें जो 'न्यायिकेतर

विलोपन' या बिना मर्जी के लापता, 'फ़र्जी मुठभेड़', अपहरण और हत्याओं आदि से संबंधित थे, जबकि भारत सरकार और पंजाब सरकार का कहना था जांच केवल सामूहिक दाह संस्कार के 2097 मामलों तक– जिनमें 585 पूरी तरह पहचाने, 274 आंशिक रूप से पहचाने और बिना पहचाने शव थे– सीमित रखी जाए जिनका संबंध अमृतसर, तरन तारन और मजीठा के पुलिस ज़िलों से था।

दोनों पक्षों के अधिवक्ताओं को सुनने के बाद आयोग ने अपने आदेश दिनांक 13 जनवरी 1999 में उच्चतम न्यायालय के निर्देश के अंतर्गत जांच का कार्यक्षेत्र निर्धारित किया जिसके अनुसार दुर्गियान मंदिर और पट्टी नगर पालिका स्थित गृहों और तरन तारन में किए 2097 शवों के दाह संस्कार (जिनमें 585 पूरी तरह पहचाने, 275 आंशिक रूप से पहचाने और 1237 बिना पहचाने शव थे) तक जांच का दायरा सीमित रहेगा जिसकी जांच उच्चतम न्यायालयों के आदेश दिनांक 15 नवम्बर 1995 के माध्यम से सी.बी.आई. को सौंपी गई थी। यह धारणा न्यायालय की छूट से मेल खाती प्रतीत नहीं होती कि आयोग पंजाब राज्य में तथाकथित सभी पुलिस हत्याओं की जांच करे।

जांच के दायरे से संबंधित आदेश के क्रम में आयोग ने 13 जनवरी 1999 को अलग से एक आदेश निकाला जिसमें अगली कार्यवाही के संचालन हेतु तरीके तय किए। आयोग ने निर्देश दिया कि 10 मार्च 1999 तक आवेदन/दावे आमंत्रित करने के लिए ज़िला अमृतसर में उसके आस–पास परिचालित समाचार पत्रों में एक सार्वजनिक सूचना प्रकाशित की जाए। आयोग ने स्पष्ट किया कि यह प्रमाणित करने का दायित्व राज्य सरकार का होगा कि पुलिस ने दाह संस्कार क़ानून द्वारा निर्धारित प्रक्रिया के अनुसार किए थे। आयोग ने यह भी निर्देश दिया कि राज्य के पुलिस ज़िलों के शवदाह गृहों में किए गए सभी लावारिस/बिना पहचाने शवों के दाह संस्कार की सूची दाख़िल करे। आदेश में इस जांच के लिए एक अलग सेल स्थापित करने के लिए कहा गया और पंजाब सरकार को निर्देश दिया कि वह शुरू मे आयोग में 15 फरवरी 1999 से पहले 25 लाख रू0 की राशि जमा कराए। पंजाब सरकार ने इसका अनुपालन कर दिया है।

याचिकादाताओं ने आयोग के आदेश दिनांक 13 जनवरी 1999 के संबंध में एक समीक्षा याचिका दायर की जिसमें जांच का कार्य क्षेत्र व्यापक बनाने का अनुरोध किया गया ताकि संपूर्ण पंजाब में हुई न्यायिकेतर हत्याओं और लापता लोगों के सभी मामले जांच के दायरे में आ जाएं। आयोग ने अपने आदेश दिनांक 24 मार्च 1999 के द्वारा जांच के दायरे को बढ़ाने से इन्कार कर दिया।

आयोग द्वारा जारी सार्वजनिक सूचना के अनुसरण में 88 दावे प्राप्त हुए जिन पर कार्रवाई की गई है। इन 88 आवेदनों पर पंजाब सरकार की टिप्पणी मांगी गई। 23 आवेदनों में पंजाब सरकार ने सूचित किया कि दावेदारों ने कहा है कि उनके रिश्तेदारों के शवों का दाह संस्कार मजीठा, तरन तारन और अमृतसर के पुलिस ज़िलों मे नहीं हुआ था। इन 23 आवेदनों को न्यायालय ने सीधे ही रद्द कर दिया क्योंकि वे भारत के उच्चतम न्यायालय की छूट के अंतर्गत नहीं आते थे। जहां तक अन्य 18 आवेदनों का संबंध है, उन पर पंजाब

सरकार अपनी नीति के अनुसार मुआवज़ा देने के लिए सहमत हो गयी। शेष 47 दावों के आवेदनों के लिए आयोग ने निर्देश दिया कि श्री आर0 वेंक्टारमानी, वरिष्ठ अधिवक्ता न्याय–मित्र (एमिकस क्यूरी) के रूप में पंजाब सरकार और पंजाब पुलिस अधिकारियों के वक्ताओं के साथ चर्चा करें। इसी दौरान पंजाब पुलिस के अधिकारी आयोग में इस अनुरोध के साथ आए कि सी.बी.आई. द्वारा जिन मामलों की जांच की जा रही है उनसे संबंधित सूचना वे नहीं दे रहे हैं। 30 नवम्बर 2000 को आयोग ने सीबीआई के प्राधिकारियों को निर्देश दिया कि पंजाब सरकार द्वारा मांगी गई सभी संबंद्ध सूचना उपलब्ध करायी जाए ताकि वे दावों के शेष 47 आवेदनों पर कार्रवाई करने की स्थिति में आ जाएं।

आयोग कुछ वर्गों की इस चिन्ता से पूर्णतः परिचित है कि आयोग द्वारा जांच का दायरा बढ़ाया जाए और उच्चतम न्यायालय द्वारा सौंपी गई जांच के दायरे के बारे में वहां से स्पष्टीकरण प्राप्त किया जाए।

कार्तिक महतो की पुलिस हिरासत में यातना के फलस्वरूप मौतः बिहार (मामला सं0 8903/95–96)

आयोग को श्रीमती मुनुवा देवी से यह आरोप लगाते हुए शिकायत प्राप्त हुई कि उसके पति, कार्तिक महतो को पुलिस ने 27 सितंबर 1995 को गैर क़ानूनी ढंग से बन्द करके निर्दयतापूर्वक यातना दी और जिसके कारण 4 अक्तूबर 1995 को उसकी मौत हो गई

आयोग के नोटिस के जवाब में पुलिस की रिपोर्ट में पुलिस हिरासत में कार्तिक महतो की मौत होना स्वीकार किया गया। इस रिपोर्ट में बताया गया कि उप–निरीक्षक के विरूद्ध धारा 302 भा. द. सं. के अन्तर्गत एक मामला दर्ज़ किया गया। उपनिरीक्षक ने न्यायालय के समक्ष आत्म–समर्पण कर दिया और क़ानून के अनुसार कार्रवाई की जा रही है।

प्राप्त रिपोर्ट के आलोक में, आयोग ने बिहार सरकार को मृतक के परिवार को 2 लाख रूपए का तुरंत अन्तरिम मुआवज़ा अदा करने और अभियुक्त से यह राशि वसूल करने का निदेश दिया। आयोग ने यह भी सिफ़ारिश की कि मृतक के परिवार के एक सदस्य को उसकी शैक्षणिक योग्यता के अनुसार रोज़गार प्रदान किया जाए। आयोग का निदेश था कि मुआवज़े की कुल राशि में से 50 प्रतिशत मृतक की विधवा के नाम पर सावधि जमा खाते में जमा करायी जाए जिसे हर तिमाही में ब्याज प्राप्त करने की अनुमति हो।

उड़ीसा में भुखमरी से होने वाली मौतों को रोकने के उपाय

उच्चतम न्यायालय के दिनांक 26 जुलाई, 1997 के आदेशों के अनुसरण में इंडियन काउंसिल फॉर लीगल ऐड एण्ड एडवाइस ने आयोग के समक्ष एक याचिका दायर की जिसमें उड़ीसा के "के बी के जिलो" के रूप में जाने जानेवाले जिलों जिनमें वास्तव में अब कालाहांडी, न्युआपाडा, बोलनगीर, सोनपुर, कोरापुट, मालनगिरी, नवरंगपुर तथा रायगाडा आठ जिले शामिल हैं, में भुखमरी के कारण होने वाली मौतों को रोकने के बारे में अंतरिम उपाय करने को कहा गया था। इससे पहले आयोग को तत्कालीन केन्द्रीय कृषि मंत्री श्री चतुरानन मिश्र से एक पत्र प्राप्त हुआ था जिसमें भुखमरी से हुई कथित मौतों की जांच करने का अनुरोध किया गया था। इसके बाद आयोग ने अधिकारियों का एक दल प्रभावित स्थानों का दौरा करने और उससे अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत करने के लिए भेजा। इस दल में आयोग के महासचिव तथा महानिदेशक (अन्वेषण) शामिल थे। आयोग को उड़ीसा विधान सभा के 7 सदस्यों द्वारा हस्ताक्षरित एक संयुक्त ज्ञापन भी प्राप्त हुआ जिसमें उन्होंने उन 14 मामलों की सूची भेजी थी जिनमें कथित रूप से भुखमरी के कारण मौतें हुई थी।

भुखमरी के कारण होने वाली मौतों के आरोप और "के बी के" ज़िलों में इस त्रासदी की बार–बार पुनरावृत्ति से जो प्रश्न उठते हैं और जिनके निहितार्थ गंभीर तथा सारांश विवादास्पद हैं, अपने स्वयं के जांच दल की रिपोर्ट तथा राज्य सरकार की प्रत्युत्तर की जांच के बाद तथा इंडियन कांउसिल ऑफ लीगल ऐड एण्ड एडवाइस और अन्य द्वारा दायर याचिकाओं पर ग़ौर करने के बाद आयोग ने इस समूचे मामले की गहराई से सुनवाई करना तथा सभी संबंधित पक्षों के पूरे सहयोग से इस पर ग़ैर–विरोधात्मक ढंग से कार्रवाई करना महत्वपूर्ण समझा।

इस मामले के सभी पहलुओं की जांच करके आयोग ने 3 सितम्बर, 1997 से 29 जनवरी, 1998 के बीच की गयी अपनी 11 सुनवाइयों के बाद एक व्यापक जांच करने की सिफ़ारिश की जिसमें अन्य बातों के साथ–भुखमरी और अकाल से संबंधित आर्थिक सिद्धान्त, उड़ीसा का आर्थिक, सामाजिक और पर्यावरणीय इतिहास विशेषकर – के बी के ज़िलों के पिछले दशकों के संदर्भ में, के बी के ज़िलों जैसी परिस्थितियां उत्पन्न होने पर राज्य सरकार तथा केन्द्र सरकार के आचरण और प्रतिक्रिया को शासित करने वाले नियम और मानदंड, सबसे अधिक गंभीर रूप से किए जा सकने वाले व्यावहारिक उपाय जिन्हें संबंधित ज़िलों में कुपोषण तथा बार–बार की भुखमरी को समाप्त करने के लिए दीर्घकालीन योजनाओं में बदला जा सके, आदि की जांच करना शामिल है।

यथोचित विचार करने के बाद आयोग इस नतीज़े पर भी पहुंचा कि दो वर्ष की अवधि के लिए अंतरिम उपाय किए जाने चाहिए और इसके साथ यह भी कहा कि जब कभी

उपयुक्त और आवश्यक समझा जाए इनकी समय समय पर समीक्षा की जा सकती है। ये अंतरिम उपाय निम्नलिखित होने चाहिए:

(क) निगरानी व्यवथा

- राज्य स्तर पर समग्र प्रयासों को निर्देशित करने तथा इनका पर्यवेक्षण करने के लिए मुख्य सचिव के अधीन एक निगरानी समिति की स्थापना की जाए।
- इसके अलावा, कमांड तथा नियंत्रण की सामान्य सीमाओं का उल्लंघन किए बिना आयोग के बी के ज़िलों के लिए अपने विशेष प्रतिनिधि के रूप में कार्य करने के लिए किसी प्रतिष्ठित व्यक्ति की नियुक्ति करने का इरादा रखता है ताकि इन ज़िलों में होने वाली घटनाओं के संबंध में आयोग को पूरी जानकारी रहे और यह प्रतिनिधि आयोग की ओर से उपयुक्त तथा आवश्यक समझे जाने पर राज्य, ज़िला या अन्य स्तर के सभी संबंधित प्राधिकारियों से परस्पर बातचीत कर सके। इस विशेष प्रतिनिधि, जिनके संबंध में सभी पक्षों से परामर्श लिया जा रहा है, के नाम की घोषणा शीघ्र कर दी जाएगी।

(ख) कार्यक्रमों की विशिष्टता

- आयोग ने सभी संबंधित पक्षों से गहन विचार–विमर्श के बाद, राज्य सरकार से ग्रामीण पेयजल आपूर्ति, सामाजिक सुरक्षा, मृदा संरक्षण तथा प्राथमिक स्वास्थ्य सेवा के संबंध में के बी के ग्रुप से संबंधित 8 ज़िलों के बारे में 1 सितम्बर, 1997 से 31 अप्रैल, 1998 की अवधि के लिए ज़िलावार व कार्यक्रमवार विशेष प्रतिबद्धताओं की सूचना मांगी है। इन कार्यक्रमों के बारे में राज्य सरकार आयोग को सूचना देगी।

(ग) आकस्मिक भोजन कार्यक्रम

इस कार्यक्रम से संबंधित सुझावों और विचारों की समीक्षा करने के बाद आयोग की राय थी कि :

- जैसा कि उपाय किया गया है आकस्मिक भोजन कार्यक्रम "दिन में एक बार" के आधार पर होना चाहिए तथापि यह कार्यक्रम महीने के प्रत्येक दिन चलना चाहिए।
- यदि कोई ज़रूरतमंद व्यक्ति भूल से इस कार्यक्रम में शामिल करने से रह जाता है तो उसे सबंधित ग्राम सभा/ग्राम पंचायत, राज्य के सक्षम प्राधिकारियों या आयोग के विशेष प्रतिनिधि की सलाह पर उन व्यक्तियों में शामिल किया जाए जो इस कार्यक्रम के अंतर्गत आ चुके हैं।

(घ) वृद्धावस्था पेंशन, अपंगता पेंशन तथा सामाजिक सुरक्षा संबंधी अन्य उपाय

- आयोग की राय थी कि वे व्यक्ति जो वृद्धावस्था पेंशन, अपंगता पेंशन तथा सामाजिक सुरक्षा संबंधी अन्य उपायों को शासित करने वाले मौजूदा मानदंडों के अंतर्गत आने के पात्र हो चुके हैं उन्हें भी इन योजनाओं के लाभ–भोगियों में शामिल किया जाए।

– राज्य सरकार द्वारा निगरानी प्रणाली स्थापित की जानी चाहिए जो सुनिश्चित करेगी कि पेंशन तथा ऐसे ही लाभों के वितरण में कोई विलम्ब न हो और विलम्ब रोकने के लिए सरकार द्वारा लाभ–भोगियों को पहचान पत्र जारी हों।

(ड़) कृषि, पारिस्थितिक सुरक्षा, मृदा संरक्षण, सिंचाई तथा अन्य योजनाओं में रोज़गार के अवसर पैदा करना

– आयोग ने रोज़गार के अवसर पैदा करने वाली गतिविधियों से संबंधित उपक्रमों की संख्या नोट की जिनके बारे में आयोग ने निगरानी प्रणाली को कड़ा करने पर जोर दिया।

(च) जनस्वास्थ्य

– आयोग ने युवा, महिलाओं तथा माताओं पर कुपोषण के हानिकारक और विध्वंसक प्रभावों पर ग़ौर किया, जिसके कारण नवजात शिशुओं के वज़न में कमी की अप्रिय घटनाओं में वृद्धि होने के अलावा उनके संपूर्ण विकास का मार्ग अवरूद्ध हो जाता है। आयोग ने सिफ़ारिश की कि निगरानी समिति को यह सुनिश्चित करने के लिए अधिकतम उपाय करने चाहिए कि के बी के ज़िलों में युवा महिलाओं के अपेक्षित आयरन तथा आयोडीन के प्रतिपूरक और विटाामिन 'ए' उपलब्ध करने के उपाय किए जाएं जो ऐसी अनावश्यक हानियों को रोकने के लिए आवश्यक थे।

– आयोग ने आगे यह भी कहा कि इन ज़िलों में स्वास्थ्य एवं पोषण संबंधी सर्वेक्षण किसी स्वतंत्र एजेंसी से कराया जाए।

(छ) भूमि सुधार

– सुनवाई के दौरान आयोग के समक्ष यह भी उल्लेख किया गया था कि इन ज़िलों के सुखद भविष्य के लिए भूमि सुधार के जटिल मुद्दों का समाधान किया जाना चाहिए। आयोग को इस सुझाव में दम नज़र आया और उसने राज्य सरकार पर एक ऐसी समिति गठित करने के लिए ज़ोर डाला जो इन ज़िलों में भूमि सुधार की कमी से उत्पन्न हुई मौजूदा परिस्थितियों को सुधारने, भूमि के हस्तातंरण, उत्प्रवास तथा ऐसी ही अन्य बुराइयों को दूर करने के उपाय सुझाए। आयोग ने इस समिति से तीन महीने की अवधि के भीतर रिपोर्ट प्रस्तुत करने का अनुरोध किया।

– आयोग का विचार है कि के बी के ज़िलों के संबंध में उठाए गए दीर्घकालीन मुद्दों को अभी स्थगित रखें तथा इन पर बाद में अलग से विचार किया जाए।

दलितों, अल्पसंख्यकों, विकलांगों और अन्य के अधिकारों का संरक्षण; कई राज्यों में इसाईयों पर हुए हमले

उड़ीसा में आस्ट्रेलियाई पादरी, श्री ग्राह्म स्टीवर्ट स्टेन्स और उसके दो पुत्रों की हुई हत्या और गुजरात तथा मध्य प्रदेश में ईसाइयों पर हुए हमलों के मामले उठाये गए थे। आयोग ने देखा कि इन गंभीर घटनाओं की पुनरावृत्तियों से एकल राज्य की भावना उमड रही है, देश के बहुलवादी चरित्र और संविधान में उल्लिखित मानव अधिकारों की गारंटी को ख़तरा नज़र आ रहा है।

समीक्षाधीन वर्ष के दौरान आयोग ने 6 विशेष शिकायतों को स्वतः संज्ञान में लिया जो ईसाई समुदाय के सदस्यों के मानव अधिकारों के हनन से संबंधित थे। ये शिकायतें निम्नलिखित से प्राप्त हुई थीं :

1. श्रीमती पी0 लाल जोसेफ, उत्तरप्रदेश की शिकायत, विजय सिंह द्वारा ईसाइयों पर हमला करने और उनको उत्पीड़ित करने का आरोप लगाया गया था।
2. डॉ0 जे0जे0 बेनेट की शिकायत, गुजरात में विश्व हिन्दू परिषद् और बजरंगदल के कार्यकर्त्ताओं द्वारा ईसाइयों पर हमले किए जाने का आरोप था,
3. श्री सैम्सन सी क्रिस्चियन की शिकायत में अहमदाबाद, गुजरात में कुछ समूहों द्वारा धार्मिक असहिष्णुता की कार्रवाईयां करने का आरोप था,
4. श्री पी0 पी0 जोसेफ जिन्होंने दक्षिणी गुजरात में विश्व हिन्दू परिषद् तथा बजरंग दल के कार्यकर्त्ताओं द्वारा अल्पसंख्यकों, ईसाइयों पर हमले करने का आरोप लगाया था,
5. श्री सैम्सन सी0 क्रिश्चियन जिन्होंने दक्षिणी गुजरात की कुछ चर्चों पर हमले किए जाने की शिकायत की थी,
6. बिहार में कार्यरत नन का अपहरण और दुर्व्यवहार के बारे में छपी ख़बरों को स्वतः संज्ञान में लिया गया।

इन घटनाओं से अत्याधिक चिंतित होकर आयोग ने बार–बार संबंधित राज्यों के मुख्य सचिवों और पुलिस महानिदेशकों के साथ संपर्क स्थापित किया। परन्तु ईसाई–समुदाय के ख़िलाफ़ हिंसक घटनाओं की ख़बरें प्रेस लगातार छाप रहा था। इसलिए आयोग ने इस समुदाय के अधिकारों का पूर्णतः संरक्षण करने हेतु देश के सभी राज्यों में किए गए प्रबंधों की व्यापक समीक्षा करना शुरू कर दिया।

समीक्षा

अथ मानवाधिकार गाथा

लोकतांत्रिक समाज में मानवाधिकारों की अनिवार्यता से शायद ही कोई असहमत होगा। नागरिक समाज में मानवाधिकारों की अवधारणा को आकर्षण प्रदान करने के लिए आवश्यक है कि लोक भाषा में मानव अधिकारों पर पर्याप्त साहित्य मौजूद हो। हिन्दी भाषा में अधिकार और कर्तव्यों का विश्लेषण विरले ही देखने को मिलता है। इस दृष्टि से प्रस्तुत पुस्तक उपर्युक्त दिशा में एक सराहनीय क़दम है। पुस्तक में मानवाधिकारों की व्यापक अवधारणाओं के दार्शनिक और वैधानिक रूप का एक साधारण विवेचन प्रस्तुत किया गया है। हालाँकि पाठक यदि इस पुस्तक से अधिकारों एवं कर्तव्यों के किसी सशक्त विश्लेषण की अपेक्षा करता है, तो उसे निराशा ही हाथ लगेगी।

पुस्तक में मानवाधिकारों की जिस पाश्चात्य अवधारणा का प्रतिपादन किया गया है, वह होफील्ड की विवेचना पर आधारित है, जबकि होफील्ड की विवेचना का पुस्तक में कही भी ज़िक्र नहीं मिलता है। दूसरी तरफ़ मानव अधिकारों की जो संरचना भारतीय संविधान में प्रस्तुत की गई है, वह महज़ पाश्चात्य ही नहीं है। मानवाधिकारों के भारतीय स्वरूप में कुछ तत्व ऐसे भी हैं, जिनका आधार भारतीय परिस्थितियों एवम् भारतीय दर्शन में निहित है। पुस्तक में इस आधारभूत भारतीय दृष्टिकोण को पर्याप्त स्थान नहीं मिला है। जिन भारतीय सुधारकों का उल्लेख किया भी गया है, उनके सिद्धांतों को अधिकारों और कर्तव्यों से जोड़ने का पर्याप्त प्रयास नहीं किया गया है।

हालाँकि पुस्तक का मुख्य उद्देश्य मानव अधिकारों और कर्त्तव्यों की विवेचना करना है किंतु अधिकारों और कर्तव्यों के विश्लेषण से इतर अन्य संबंधित विषयों का विश्लेषण अधिक है। मूल अधिकारों जैसे समानता का अधिकार (अनुच्छेद 14), धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार आदि पर कोई स्पष्ट टिप्पणी पुस्तक में नहीं मिलती है।

लेखक ने पुस्तक में अधिकारों की रचना को व्यक्तिगत न मानकर समष्टि विषयक आधारभूत रचना कहा है। एक स्थान पर लेखक ने मानव अधिकारों की परिभाषा देते हुए लिखा है, "मानवाधिकार से अभिप्राय उन अधिकारों से है, जो मानव समाज के विकास के लिए मूलभूत है, तथा 'वे मानव को केवल इस आधार पर मिलने चाहिए कि वह मानव है। मानव के द्वारा जो नैतिक, मौलिक एवं असंक्राम्य (Inalienable) अधिकार धारण किए जाते हैं, उन्हें मानवाधिकार कहा जा सकता है।" "मानव अधिकारों की परिभाषा देते हुए लेखक यह भूल गया है कि मानव अधिकार, मानव गरिमा, मानवीय संवेदना और मानवीय चिन्तन के सारभूत तत्वों से निकलते हैं। उक्त परिभाषा

से यह भी स्पष्ट होता है कि लेखक मानवाधिकारों की पाश्चात्य अवधारणा से पूर्वागृहीत है। लेखक मानवाधिकारों की ऐतिहासिक संकल्पना को अमरीकी स्वतंत्रता और मैग्ना कार्टा से जोड़ता है, जबकि भारतीय परिप्रेक्ष्य में अधिकारों का अस्तित्व महज़ पाश्चात्य इतिहास पर निर्भर नहीं है। भारत और भारतीय संस्कृति में अधिकारों की एक स्वतंत्र व्युत्पत्ति है। लेखक की समझ के हल्केपन का अंदाज़ा इस बात से भी लगाया जा सकता है कि उसने कहीं भी वेदों, उपनिषदों, पुराणों, स्मृतियों एवं मीमांसाओं, आदि एवं अन्य भारतीय स्रोतों का सहारा न लेकर अपने विश्लेषण को अधूरा ही छोड़ दिया है। साथ ही साथ भारत में मानवाधिकारों पर स्वतंत्रता आंदोलन के प्रभाव पर भी पर्याप्त दृष्टिपात नहीं किया गया है।

पिछले कुछ वर्षों में सिविल और राजनैतिक अधिकारों के साथ–साथ, आर्थिक, सामजिक एवं सांस्कृतिक अधिकारों को भी मानवाधिकारों की मूलधारा में समाहित करने का प्रयास हो रहा है। भारत में न्यायिक सक्रियता के चलते ऐसे तमाम अधिकारों को मूल अधिकारों में आत्मसात करने की एक प्रक्रिया उच्चतम न्यायालय ने आरम्भ की है। इतना ही नहीं हाल ही में स्थापित संविधान समीक्षा समिति ने भी इस विषय पर एक विशद् रिपोर्ट तैयार की है। पुस्तक में इस पहलू को पूर्ण रूप से नज़रअंदाज़ कर दिया गया है।

पुस्तक में कम से कम दो अध्याय ऐसे हैं, जो महज़ पृष्ठ भरने का काम करते हैं। तीसरे अध्याय में मानवीय मूल्यों और सातवें अध्याय में व्यक्ति और समाज की समीक्षा शेष पुस्तक में की गई मानवाधिकारों की व्यापक समीक्षा से कुछ कटी हुई प्रतीत होती है। ऐसा नहीं है कि इन विषयों का अधिकारों एवं कर्तव्यों से कोई संबंध नहीं है किंतु लेखक ने उस संबंध को स्थापित करने का कोई प्रयास नहीं किया है, जिससे यह दोनों अध्याय अनावश्यक से प्रतीत होते हैं। उसी तर्ज़ पर बारहवें अध्याय में विश्व परिदृश्य में मानवाधिकार के संदर्भ में सिविल सेवा और विश्वविद्यालय स्तर पर मानवाधिकार शिक्षा आदि अन्य विषयों का औचित्य समझ में नहीं आता है।

सोलहवें अध्याय में महिलाओं और मानवाधिकार संबंधी विषय पर लेखक ने अनावश्यक जानकारी तो दी है, किंतु कार्यस्थल पर यौन उत्पीड़न और विशाखा बनाम राजस्थान सरकार जैसे महत्त्वपूर्ण निर्णयों पर कोई टिप्पणी नहीं की है। इस अध्याय में कुछ पृष्ठों (286 से 290 तक) में दी गई जानकारी का तो महिला अधिकारों से कोई संबंध समझ में ही नहीं आता।

तेरहवें अध्याय में प्रस्तावना में व्यक्त पदावली की व्याख्या में कुछ शब्दों की व्याख्या या तो अपर्याप्त या दिग्भ्रमित करने वाली है, जैसे 'राजनैतिक न्याय', 'व्यक्ति की गरिमा' इत्यादि।

न्यायिक सक्रियता की आलोचना में पर्याप्त दृष्टिकोणों को प्रस्तुत करने का कोई प्रयास नहीं किया गया है। महज़ कुछ लेखकों के वक्तव्यों को

प्रस्तुत कर लेखक अपने दायित्व से मुक्ति पाना चाहता है।

संविधान में वर्णित अधिकारों पर भी लेखक अपना मौलिक अन्वेषण कर पाने में अक्षम रहा है। लेखक ने पूरी पुस्तक में अनेक उद्धरणों को लिया है, किंतु उन्हें पर्याप्त रूप से इंगित नहीं किया है। किसी भी शोधपूर्ण कृति के लिए यह आवश्यक है कि मौलिकता को अक्षुण्ण रखने के लिए अन्य लेखकों के विचारों को स्वयं का विचार बनाकर प्रस्तुत न किया जाए और स्रोतों को स्पष्ट रूप से फुटनोट दिया जाए। लेखक ने ऐसा लगता है इस विषय पर ध्यान नहीं दिया है।

वैसे तो पुस्तक का शीर्षक 'मानवाधिकार और कर्तव्य' है, किंतु पुस्तक में कर्तव्यों की समीक्षा न के बराबर ही है। कर्तव्य और अधिकार परस्पर पूरक हैं और उन्हें महज़ संविधान में वर्णित मौलिक कर्तव्यों मात्र तक ही सामित नहीं रखा जा सकता है। इससे इतर कर्तव्यों और अधिकारों में संबंध स्थापित करने का पुस्तक में कोई भी प्रयास नहीं किया गया है।

इन सबके बावजूद पुस्तक में मानवाधिकार संबंधी अधिकाधिक सूचनाओं को समाहित करने और उन्हें हिन्दी में उपलबध कराने का सराहनीय प्रयास किया है। पुस्तक मानवाधिकारों पर संपूर्ण तो नहीं किंतु एक मोटी और साधारण जानकारी उपलब्ध कराने में अवश्य सक्षम है।

पुस्तक की आवरण सज्जा, छपाई और उसमें उपयोग किए गए काग़ज़ सभी आकर्षक है। मानवाधिकार कार्यकर्ताओं और विद्यार्थियों के लिए पुस्तक सूचना की दृष्टि से काफ़ी उपयोगी है। हालाँकि गहन अध्ययन करने वाले विद्यार्थियों और शोध छात्रों के लिए पुस्तक में की गई मानवाधिकारों की विवेचना अपूर्ण है। पुस्तक पाश्चात्य चिंतन के आकाश में उड़ती दिखाई देती है। यदि पश्चिम और पूर्व की संस्कृति को मिला कर इस पुस्तक की अवधारणा का मानवधिकारों के परिप्रेक्ष्य में विश्लेषण किया जाए तो लेखक का चिन्तन पाश्चात्य विद्वानों से प्रभावित लगता है, और उसमें मौलिकता का अभाव सर्वथा झलकता है।

पुस्तक का नाम – **मानवाधिकार और कर्त्तव्य**

लेखक – प्रकाश नारायण नाटाणी

मूल्य – 800 रूपए

प्रथम संस्करण – 2003

–अभिषेक नाथ त्रिपाठी

नेशनल लॉ स्कूल ऑफ इंडिया यूनिवर्सिटी

बैंगलूर

इस अंक के रचनाकार

डॉ. ए एस आनन्द सर्वोच्च न्यायालय के पूर्व मुख्य न्यायमूर्ति, सम्प्रति– अध्यक्ष, राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग	**श्रीमती सुजाता वी. मनोहर** सर्वोच्च न्यायालय के पूर्व न्यायाधीश, केरल एवं महाराष्ट्र उच्च न्यायालय के पूर्व मुख्य न्यायाधीश, सम्प्रति–सदस्य, राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग
श्री वाई भास्कर राव कर्नाटक उच्च न्यायालय के पूर्व मुख्य न्यायाधीश, सम्प्रति–सदस्य, राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग	**श्री एस.वी.एम. त्रिपाठी** आई.पी.एस. (सेवा से रिटा.) पूर्व पुलिस महानिदेशक, उत्तर प्रदेश; पूर्व महानिदेशक केंद्रीय रिज़र्व पुलिस बल; सम्प्रति; सदस्य उत्तर प्रदेश राज्य मानव अधिकार आयोग
डॉ. पी के अग्रवाल आई.ए.एस. प्रधान सचिव (जेल), पश्चिम बंगाल एवं साहित्यकार; हिंदी में अनेकों पुस्तकें प्रकाशित	**प्रो. गिरीश्वर मिश्र** आचार्य, मनोविज्ञान विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
श्री स्वामी अग्निवेश अध्यक्ष, बंधुआ मुक्ति मोर्चा	**डा. विन्देश्वर पाठक** संस्थापक, सुलभ आंदोलन, सुलभ इंटरनेशनल, सोशल सर्विस आर्गनाइज़ेशन
डॉ. त्रिनाथ मिश्र पूर्व महानिदेशक, केंद्रीय रिज़र्व पुलिस बल, केंद्रीय औद्योगिक सुरक्षाबल; निदेशक, एस पी जी; पूर्व पुलिस महानिदेशक, मणिपुर तथा कई अन्य केंद्रीय पुलिस संगठनों के प्रमुख	**श्री चमन लाल** पूर्व पुलिस महानिदेशक, नागालैंड; सम्प्रति–स्पेशल रैपरटियर, राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग;
प्रो. बी.बी. पांडे अपराध–क़ानून एवं अपराध विज्ञान, विधि संकाय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली	**श्री एम.एल. गुप्त** संयुक्त सचिव (राजभाषा), राजभाषा विभाग, गृह मंत्रालय, भारत सरकार
प्रो. योगेश अटल पूर्व प्रधान निदेशक, यूनेस्को; सदस्य, भारतीय सामाजिक विज्ञान अनुसंधान परिषद; पूर्व आचार्य, सागर विश्वविद्यालय, सागर	**प्रो. विवेक मिश्र** राजनीति विज्ञान विभाग, रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय, जबलपुर

श्री राजेश प्रताप सिंह, आई पी एस, उप पुलिस महानिरीक्षक, उत्तर प्रदेश; मानव अधिकारों से संबंधित मुद्दों के गंभीर चिंतक एवं विश्लेषक	**श्री अरूण कुमार** आई पी एस, उपमहानिरीक्षक, केंद्रीय अन्वेषण ब्यूरो, नई दिल्ली, मानवीय संवेदनाओं के चिंतक एवं सम्बद्ध विषयों पर हिंदी में लेखन
श्री मुकेश कुमार मेश्राम, आई ए एस, ज़िलाधिकारी, उन्नाव, उत्तर प्रदेश तथा सामाजिक मुद्दों के गंभीर चिंतक व लेखक	**डॉ0 हरिओम,** आई ए एस, ज़िलाधिकारी, सहारनपुर, उत्तर प्रदेश; हिंदी लेखक
श्री सत्यनारायण साबत, आई पी एस, वरिष्ठ पुलिस अधीक्षक, वाराणसी; मानवाधिकार–विषयों/समस्याओं पर हिंदी में लेखन; रेडियो, दूरदर्शन आदि पर अनेकों वार्ताएं प्रसारित	**श्री बलराज पुरी** वरिष्ठ लेखक एवं पत्रकार,

आयोग के प्रकाशन

क्र.सं.	प्रकाशन	मूल्य
1.	इम्पॉरटेंट इन्सट्रक्शन्स/ गाइडलाइन्स –	50.00
2.	लार्ज वाल्यूम पारएन्टेरल्सः टुआर्ड जीरो डिफेक्ट –	205.00
3.	स्टेट ऑफ दी आर्ट फॉरेंसिक साइंसः फॉर बेटर – क्रिमिनल जस्टिस	110.00
4.	क्वालिटी ऐश्यूरेन्स इन मेंटल हेल्थ –	250.00
5.	हैंड बुक ऑन ह्यूमन राइट्स फॉर जुडिशियल ऑफिसर्स –	220.00

आयोग के प्रकाशन

(निःशुल्क)

1 नेशनल कांफ्रेन्स ऑन ह्यूमन राइट्स एण्ड एच आई वी/एड्स (24–25 नवम्बर, 2000, नई दिल्ली)

2 नेशनल सेमिनार कम – पब्लिक कन्सलटेशन ऑन रेसिज़्म, रेशियल डिसक्रिमिनेशन, जीनोफोबिया एण्ड रिलेटेड इनटॉलरेन्स–12 रिपोर्ट (11 अगस्त, 2001, नई दिल्ली)

3 प्रोफेशनल पॉलिसिंग–थीम्स, ह्यूमन राइट्स इनवेस्टिगेशन एण्ड इंटरव्यूइंग स्किल्स, ह्यूमन राइट्स एण्ड कस्टडी मैनेजमेंट (नेशनल ह्यूमन राइट्स एण्ड ब्रिटिश काउंसिल)

4 जर्नल ऑफ दी नेशनल ह्यूमन राइट्स कमीशन

5 नेशनल ह्यूमन राइट्स कमीशन्स गाइडलाइन्स फॉर स्पॉन्सरिंग रिसर्च (पी आर पी एण्ड पी डिवीजन)

6 नेशनल ह्यूमन राइट्स ब्रोशर

7 रीजनल कन्सलटेशन ऑन पब्लिक हेल्थ एण्ड ह्यूमन राइट्स (10–11 अप्रैल, 2001, नई दिल्ली)